भूमिका

महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में एक इतिहास प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

पूर्वकाल में ऋषियों के न रहने पर मनुष्य देवजनों के पास गये और बोले—'को न ऋषिर्भविष्यति ?'—अब हमारा कौन ऋषि होगा ? तब देवों ने उन्हें तर्क-ऋषि प्रदान किया - 'तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्' (निरुक्त १३/१२)। तर्क को लक्ष्य करके भगवान् मनु ने कहा है—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। —मनु० १२/१०६

अर्थात् जो तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म के तत्त्व को जानता है, अन्य नहीं।

यहाँ तर्क से अभिप्राय है—प्रमाणों के अनुसार सत्य का निश्चय करना। प्रमाण ही न्याय का देवता अथवा मुख्य प्रतिपाद्य है। लोक में उसी को तर्कविज्ञान या तर्कशास्त्र भी कहते हैं। जब तक वादी-प्रतिवादी होकर वाद न किया जाय तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए लोकोक्ति बन गई है—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'। अपनी इस शक्ति के कारण न्यायशास्त्र विभिन्न नामों से विभिन्न रूपों में देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन कर विश्व भर में लोक-व्यवहार में भी उतना ही उपयोगी हो गया है जितना धार्मिक अथवा दार्शनिक ऊहापोह में। अनुमान की पूरी प्रक्रिया (जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन पाँचों अवयव शामिल हैं) का आधार यही दर्शन है। समस्त दार्शनिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक ऊहापोह का नियमन न्यायदर्शन के सिद्धान्तों के द्वारा ही होता है। अन्यथा चिरकाल तक मन्थन करते रहने पर भी तत्त्वार्थ-नवनीत की प्राप्ति नहीं होती।

न्याय और वैशेषिक दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं। जहाँ वैशेषिक पदार्थों और उनके धर्मों का उल्लेख, संगमन एवं स्वरूप का विवेचन करता है, वहाँ न्यायदर्शन उन पदार्थों एवं धर्मों के जानने और समझने की प्रक्रिया का निरूपण करता है।

यास्क हरेक साधारण मनुष्य के तर्क को तर्क नहीं मानते। वे ऐसे मनुष्य के ऊहापोह को ही ऋषि समझते हैं जो अनेक विद्याओं में पारंगत हो, बहुश्रुत हो, तपस्वी हो और प्रकरणानुसार चिन्तन करनेवाला आप्तपुरुष हो।

दार्शनिक साहित्य के प्रणयन में निष्णात, दर्शनशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् साहित्यवाचस्पति आचार्य उदयवीर शास्त्री अपने विषय के अधिकृत विद्वान् हैं। दर्शनशास्त्र जैसे क्लिष्ट एवं शुष्क विषय के प्रस्तुतिकरण को उनकी शैली की यह विशेषता है कि वह विद्वानों से लेकर साधारणजनों तक के लिए सुबोध एवं रुचिकर होने से सभी के लिए समान रूप से उपादेय है।

आचार्य उदयवीर जी प्रणीत साहित्य का प्रकाशन अब तक श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ द्वारा-संस्थापित, श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी द्वारा पोषित तथा श्री आचार्य उदयवीर जी द्वारा प्रतिष्ठित विरजानन्द वैदिक (शोध) संस्थान द्वारा होता रहा है। आचार्य जी के अशक्त हो जाने तथा इस कारण उससे संन्यास ले लेने के परिणामस्वरूप यह संस्थान श्रीहीन हो गया। परन्तु इतने उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से समाज वंचित न हो, इसलिए भविष्य में आचार्य जी की सम्पूर्ण रचनाओं के प्रकाशन का दायित्व गोविन्दराम हासानन्द के स्वत्वाधिकारी श्री विजयकुमार जी ने अपने ऊपर ले लिया। गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन संस्थान की स्थापना महान् गोभक्त हासानन्द जी के सुपुत्र तथा श्री विजयकुमार जी के पिता श्री गोविन्दराम जी ने आर्यसमाज के उदयकाल में की थी। न्यायदर्शन के प्रस्तुत संशोधित संस्करण का प्रकाशन उसी के द्वारा हो रहा है। श्री विजयकुमार जी को अनेकशः साधुवाद एवं आशीर्वाद।

डी-१४/१६ मॉडल टाउन, दिल्ली
१६-१०-९०

—**विद्यानन्द सरस्वती**

आचार्य उदयवीर शास्त्री
व्यक्तित्व एवं साहित्य-साधना

डॉ० भवानीलाल भारतीय

भारतीय दर्शनों के उद्भट विद्वान् पं० उदयवीर शास्त्री का जन्म पौष शुक्ल १० सं० १९५१ वि० तदनुसार ६ जनवरी, १८९१ को बुलन्दशहर जिले के ग्राम बनैल में ठाकुर पूर्णसिंह तथा माता तोहफा देवी के यहाँ हुआ। इनका बचपन का नाम उदयवीरसिंह था। निकटवर्ती ग्राम साबितगढ़ में आर्यसमाज के उत्सव पर गुरुकुल सिकन्दराबाद के संस्थापक पं० मुरारीलाल शर्मा के व्याख्यान से प्रेरणा पाकर ठाकुर पूर्णसिंह ने अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कराने का संकल्प किया, फलतः उदयवीरसिंह १४ वर्ष की आयु में गुरुकुल सिकन्दराबाद में पठनार्थ भेजे गए। यहाँ उनका अध्ययन १९१० तक रहा। तत्पश्चात् वे १९१० में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में आए। उस समय महाविद्यालय अपनी शैक्षणिक दृष्टि से आर्यसमाज की एक उत्कृष्ट संस्था के रूप में सम्मान प्राप्त कर रहा था। स्वामी शुद्धबोध तीर्थ (पं० गंगादत्त शास्त्री) के अतिरिक्त पं० नरदेव शास्त्री तथा पं० पद्मसिंह शर्मा जैसे कृती विद्वान् उन दिनों महाविद्यालय में पढ़ाते थे। उदयवीरजी ने कलकत्ता विद्यालय की न्यायतीर्थ (१९१५ में) तथा सांख्य-योगतीर्थ (१९१६ में) परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। गुरुकुल की विद्याभास्कर परीक्षा भी आपने ससम्मान उत्तीर्ण की। कालान्तर में पुरी के शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ ने शास्त्रीजी के पाण्डित्य पर मुग्ध होकर उन्हें शास्त्र-शेवधि तथा वेदरत्न उपाधियों से अलंकृत किया तथा महाविद्यालय ने अपने इस यशस्वी छात्र को विद्यावाचस्पति से सम्मानित किया।

जब वे १९१५ में न्यायतीर्थ की परीक्षा देने के लिए कलकत्ता गए थे तो उनके समक्ष एक कठिनाई आई। 'तीर्थ' उपाधि के लिए मौखिक परीक्षा भी होती है। परीक्षा लेनेवाले परीक्षक बंगाली विद्वान् ही होते हैं जिनके 'ओकारान्त' उच्चारण के कारण हिन्दी-भाषी छात्र उदयवीर के लिए उनके प्रश्नों को हृदयंगम करना कठिन हो सकता था। फलतः वे विश्वविद्यालय के तत्कालीन वाइस चांसलर सर आशुतोष मुखोपाध्याय के पास गए और उनके समक्ष अपनी समस्या रखी। मुखोपाध्याय महाशय छात्र की दिक्कत समझ गए और उन्होंने हँसते हुए कहा—"हाँ,

में समझा गया। बंगाली 'अव्यक्त वाक्' होते हैं। मौखिकी के लिए दूसरी व्यवस्था हो जाएगी।' फलतः उस वर्ष मौखिकी लेनेवाले कोई दाक्षिणात्य विद्वान् थे।

कलकत्ता की परीक्षाएँ देने के बाद उनके मन में पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने का विचार आया। उन्होंने ओरियण्टल कॉलेज लाहौर के प्राचार्य प्रो० ए० सी० वुलनर को एक पत्र लिखा और स्वयं लाहौर जा पहुँचे। उन्होंने प्रो० वुलनर से व्यक्तिशः भेंट की और शास्त्री कक्षा में प्रविष्ट हो गए। लाहौर में महात्मा हंसराज ने उन्हें निवासादि की पूर्ण सुविधा दी। अमृतधारा के प्रवर्तक पं० ठाकुर दत्त शर्मा ने उन्हें अपने ही घर में रहने का आग्रह किया। इस प्रकार १९१७ में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर पुनः वे महाविद्यालय में आ गए और आगामी चार वर्ष तक वहीं अध्यापन करते रहे। १९२१ में शास्त्रीजी का विवाह आर्मी पुलिस के अधीक्षक ठाकुर प्रतापसिंह की पुत्री विद्याकुमारी से हुआ। विवाह का भी एक मनोरंजक संस्मरण है। शास्त्रीजी के ससुर पुलिस में तो थे ही, आखेट-प्रिय भी थे। उनका पूरा परिवार ही मांसाहारी था। अकेली विद्याकुमारी ही निरामिषभोजी थी। जब कभी ठाकुर साहब अपनी इस लड़की के विवाह की चर्चा करते तो अन्यमनस्क होकर कहने लगते—"ठाकुरों के परिवार में जन्मी इस कन्या के लिए मैं ब्राह्मण देवता कहाँ से तलाश करूँगा?" किन्तु कुछ संयोग ही ऐसा बना कि उन्हें सच्चे अर्थों में पं० उदयवीर शास्त्री जैसे दामाद मिले जो जन्मनाक्षत्रिय किन्तु विद्या व्यासंग और कर्म से ब्राह्मण थे।

१९२० में जब महात्मा गांधी ने असहयोग-आन्दोलन चलाया तो उन्होंने देश के विद्यार्थियों को अंग्रेजी विद्यालयों का बहिष्कार करने की प्रेरणा दी। किन्तु देश के युवाओं को अशिक्षित रखना तो महात्माजी का भी अभिप्राय नहीं था। अतः देश के विभिन्न नगरों में राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। लाहौर में लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द की प्रेरणा से नेशनल कॉलेज खोला गया। इसमें पं० जयचन्द्र विद्यालंकार तथा स्वयं भाई परमानन्द जैसे आर्यसमाजी विद्वान् छात्रों को इतिहास की शिक्षा देते थे। १९२१ में शास्त्रीजी भी संस्कृत-अध्यापक बनकर इसी कॉलेज में आ गए। यहाँ उनका संसर्ग भगतसिंह, भगवतीचरण वोहरा आदि क्रान्तिकारियों से हुआ। भगतसिंह तो संस्कृत पढ़ते थे, अतः शास्त्रीजी के छात्र भी थे। वोहरा से भी शास्त्रीजी का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा जो कालान्तर में पारिवारिक जैसा ही हो गया। जब लाहौर में भगतसिंह की पुलिस द्वारा सरगर्मी से तलाश की जाने लगी तो वे वहाँ से भागकर कानपुर चले आए और शास्त्रीजी का सन्दर्भ देकर अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग में कार्य करने लगे। एक अपरिचित युवक को जिम्मेदारी का काम सौंपने के पूर्व विद्यार्थीजी ने पुनः शास्त्रीजी को पत्र लिखकर पूछा। तत्पश्चात् शास्त्रीजी ने जब उन्हें पूर्ण आश्वस्त कर दिया तो भगतसिंह की ओर से विद्यार्थी

जी भी निश्चित हो गए। शास्त्रीजी का शहीद भगतसिंह से निरन्तर सम्बन्ध बना रहा। जब वे नेशनल कॉलेज के बन्द हो जाने के कारण लाहौर छोड़कर कुछ समय के लिए अपने ससुराल की जमींदारी नाहन (हिमाचल प्रदेश) में आकर रहने लगे तो पुलिस की निगाह से बचने के लिए सरदार भगतसिंह भी नाहन आकर शास्त्रीजी से मिले। अब शास्त्रीजी के लिए धर्म-संकट की-सी स्थिति उत्पन्न हो गई। उनके ससुर सरकारी सेवा में थे, अतः शास्त्रीजी यह भी नहीं चाहते थे कि भगतसिंह की उपस्थिति के कारण उनके ससुर को परेशानी हो। उधर वे अपने प्रिय छात्र को संरक्षण भी देना चाहते थे। फलतः वे उन्हें लेकर एक निकटवर्ती गाँव में चले गए और अपने एक परिचित के यहाँ सरदार भगतसिंह को रखा। शहीद भगतसिंह के हृदय में अपने विद्यादाता इन गुरुवर के प्रति असीम श्रद्धा थी। इसका एक प्रमाण इस बात से मिलता है कि फाँसी की कालकोठरी से ही भगतसिंह ने एक पुस्तक स्वहस्ताक्षरों से अंकित कर शास्त्रीजी को भेजी। अमूल्य निधि समझकर शास्त्रीजी आज भी इसे सहेजे हुए हैं।

भगतसिंह की ही भाँति शहीद भगवतीचरण वोहरा के साथ भी शास्त्रीजी का अन्तरंग सम्बन्ध रहा। २८ मई, १९३० को रावी-तट पर बम बनाते समय वोहरा ने वीरगति प्राप्त की थी। उनकी पत्नी दुर्गादेवी वोहरा का शास्त्रीजी की गृहिणी से अत्यन्त प्रेम था। श्रीमती वोहरा ने शास्त्रीजी के रोचक संस्मरण उनके अभिनन्दन-ग्रन्थ 'ऋतम्भरा' में अंकित किए हैं। लाहौर में शास्त्रीजी ने कुछ काल तक दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में भी अध्यापन किया।

देश-विभाजन के पश्चात् वे कुछ काल तक शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ बीकानेर के आचार्य रहे। यहाँ रहते हुए आपने अनुभव किया कि वैतनिक रूप से अध्यापन करने के साथ-साथ उच्चकोटि का साहित्य-लेखन सम्भव नहीं है। फलतः आप गाजियाबाद आ गए और 'विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान' में रहकर समग्ररूप से सारस्वत साधना में ही लग गए। यहाँ आपको स्वामी वेदानन्द तीर्थ और स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती जैसे संन्यासियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। स्वामी विज्ञानानन्द जी ने उन्हें आर्थिक और लौकिक कठिनाइयों से पूर्णतया मुक्त कर एकान्ततः लेखन-कार्य में लग जाने की प्रेरणा दी। इसी का परिणाम था कि शास्त्रीजी ने उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया और विद्वत्समाज में उन्हें दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् के रूप में ख्याति प्राप्त हुई। १९५८ में वे गाजियाबाद आए थे और लगभग दो दशकों तक वहाँ रहकर उन्होंने लेखन-कार्य किया। अन्ततः अत्यन्त वार्धक्य और नेत्र-ज्योति क्षीण होने के कारण वे अपनी पुत्री के पास अजमेर आ गए। इसी बीच उनकी पत्नी का भी निधन हो गया। विगत पाँच वर्षों से वे अत्यन्त जराजीर्ण एवं रुग्ण होने पर भी पूर्ण सचेत होकर जीवन का संध्याकाल व्यतीत कर रहे हैं। परमात्मा उन्हें दीर्घायु करे!

उदयवीर शास्त्री की साहित्य-साधना

शास्त्रीजी की सारस्वत साधना १९२३ में आरम्भ हुई। उस समय वे लाहौर में ही थे। सर्वप्रथम उन्होंने महामति कौटल्य (चाणक्य) लिखित विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' पर माधव यज्वा की लिखी 'नय चन्द्रिका' नामी टीका का सम्पादन किया। इसके तुरन्त पश्चात् १९२५ में तीन भागों में 'अर्थशास्त्र' का सटीक संस्करण तैयार किया जिसे मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया। १९२६ में साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भटालंकार की संस्कृत एवं हिन्दी टीका लिखी, जो प्रकाशित हुई।

सांख्य दर्शन के अध्ययन को पं० उदयवीरजी का योगदान

पं० उदयवीरजी के अध्ययन का प्रिय विषय सांख्य दर्शन रहा है। इस दर्शन के अनुशीलन में उन्होंने अपने जीवन का बहुलांश लगाया है। दार्शनिक विद्वानों में यह सामान्य धारणा है कि प्रचलित कपिल-प्रोक्त सांख्यसूत्र अधिक प्राचीन नहीं है अपितु ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्यकारिका' ही सूत्रों की अपेक्षा प्राचीन है। कोई-कोई विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि सूत्रों की रचना कारिकाओं के अनुकरण पर ही हुई है। शास्त्रीजी अपने दीर्घकालीन अनुशीलन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वस्तुतः कपिल-प्रणीत सांख्यसूत्र (षडध्यायी सांख्य) ही इस शास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ है। ईश्वरकृष्ण की जिन कारिकाओं को कतिपय सूत्रों का मूल समझा जाता है वस्तुतः वे कारिकाएँ ही सूत्रों के आधार पर निर्मित हुई हैं। जब लाहौर में सम्पन्न हुए अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् (All India Oriental Conference) के वर्ष १९२८ के अधिवेशन के सभापति महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री से पं० उदयवीरजी ने उक्त तथ्य की चर्चा की और अपने निष्कर्षों से परिचित कराया तो इन क्रान्तिकारी धारणाओं को सुनकर महामहोपाध्याय महाशय का चौंकना स्वाभाविक ही था। अप्रत्याशित रूप से उनके मुँह से इतना ही निकला, "शास्त्रिन् अतिभयंकरमेतत्।" इसके बाद शास्त्रीजी ने सांख्य दर्शन के अनुशीलन में अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति लगा दी। इसी अध्ययन का परिणाम 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के रूप में दर्शन के जिज्ञासुओं के समक्ष आया जिसका प्रथम संस्करण १९५० में प्रकाशित हुआ। यह 'इतिहास' अपने-आप में एक महाप्रबन्ध है जिसमें वैदिक दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण सांख्यदर्शन के रचयिता भगवान् कपिल तथा परवर्ती सांख्याचार्यों तथा उनकी कृतियों का काल-क्रमानुसार विवेचन किया गया है। सांख्यदर्शन के शताधिक ग्रन्थों का आलोडन-विलोडन करने के पश्चात् लेखक ने अपने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो उनकी यह सुदृढ़ स्थापना है कि सांख्य का चिन्तन विश्व की प्राचीनतम दार्शनिक दृष्टि है तथा इसके प्रवक्ता महर्षि कपिल संसार के पुराणतम दार्शनिक

है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'षडध्यायी सांख्य सूत्र' भी अत्यन्त प्राचीन है। इसमें उन्होंने सांख्यसूत्रों की मौलिकता और प्रामाणिकता को सप्रमाण सिद्ध किया।

शास्त्रीजी को 'सांख्य दर्शन का इतिहास' लिखकर ही सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने इस दर्शन के प्रतिपाद्य का स्पष्ट रीति से विवेचन करने के लिए 'सांख्य-सिद्धान्त' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा। इसके प्रारम्भिक अध्यायों में सांख्य वर्णित २५ तत्त्वों की पुरुष, प्रकृति और विकार इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचना की गई है। तत्त्व-विवेचन के प्रसंग में रसायन-शास्त्र में परिगणित शताधिक तत्त्वों (Elements) तथा सांख्य-स्वीकृत पंच भूतों की तुलनात्मक विवेचना करते हुए उन्होंने सांख्य के दृष्टिकोण की यथार्थता प्रतिपादित की है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सांख्यदर्शन की चर्चा जहाँ-जहाँ, जिस-जिस प्रसंग में हुई है उन सभी सन्दर्भों की विस्तृत व्याख्या कर लेखक ने अपने इस ग्रन्थ को एक प्रकार से सांख्य-विषयक विश्वकोश ही बना दिया है।

जब पं० उदयवीरजी ने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' और सांख्य-सिद्धान्त प्रतिपादक दो ग्रन्थ लिख डाले, तो उन्होंने यह भी आवश्यक समझा कि अब कापिल सूत्रों की व्याख्या भी लिखी जानी चाहिए। फलतः सांख्य के विद्योदय-भाष्य का प्रणयन हुआ। यों तो इस भाष्य से पूर्व भी आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने सांख्यदर्शन के विभिन्न भाष्य लिखे थे, किन्तु विद्योदय-भाष्य एक अपूर्व कृति है। इसके द्वारा सांख्यदर्शन की समस्त मान्यताएँ सुस्पष्ट हो जाती हैं। शास्त्रीजी ने सांख्यदर्शन के प्रथम अध्याय के २५ सूत्रों को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है और परिशिष्ट में इन सूत्रों के अर्थ भी लिख दिए हैं। इस भाष्य से सांख्य-चिन्तन की प्राचीनता तो सिद्ध होती ही है, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शनों का काल सांख्यदर्शन के उद्भव-काल से बहुत बाद का ही है। अतः इस कल्पना में कोई सार नहीं है कि सांख्यदर्शन के कुछ सूत्र बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रवर्तन-काल के बाद के हैं, केवल इसलिए कि उन सूत्रों में उक्त अवैदिक विचारधाराओं का खण्डन मिलता है। शास्त्रीजी की युक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य-सूत्रों की रचना उस युग में हुई थी जब बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शनों का जन्म भी नहीं हुआ था।

सांख्यदर्शन के इतिहास ने लेखक को भारत के मूर्धन्य दार्शनिकों में प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी इस कालजयी पुस्तक पर उन्हें निम्न पुरस्कार प्राप्त हुए

सेठ हरजीमल डालमिया पुरस्कार—११०० रु०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पुरस्कार १२०० रु०

उत्तर प्रदेश सरकार का साहित्य पुरस्कार १२०० रु०

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का पुरस्कार १००० रु०

सांख्यदर्शन के पश्चात् शास्त्रीजी ने अन्यान्य दर्शनों पर भी लेखनी उठाई।

सर्वप्रथम 'वेदान्त दर्शन' का विद्योदय-भाष्य २०२३ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें विद्वान् भाष्यकार ने शारीरक सूत्रों की भेदपरक व्याख्या की और शांकर मत की त्रुटियों को उजागर किया है। स्मर्तव्य है कि शंकर ने अपने वेदान्त-भाष्य में कतिपय सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग में सांख्य-सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। शास्त्रीजी ने इन आपत्तियों का कपिल-मतानुसार सुन्दर समाधान किया है। 'वेदान्त दर्शन' के विद्योदय-भाष्य के प्रकाशन के पश्चात् उन्होंने 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' लिखा। यह ग्रन्थ २०२७ वि० में छपा। वेदान्त दर्शन पर लिखे गए विभिन्न ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का विस्तृत परिचय देना अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य था। इसमें आपने आद्यशंकराचार्य का काल निरूपण करते हुए उन्हें २२०० वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है। यह एक सुखद संयोग ही है कि शास्त्रीजी शंकर का काल-निर्धारण करते हुए उसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं जो स्वामी दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में उल्लिखित हुआ है। आदिशंकर का काल-निर्धारण करते समय आपने शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों मठों के आचार्यों के कार्यकाल-विषयक तत्-तत् मठों में उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री का सम्यक् परीक्षण किया था। प्रसन्नता की बात है कि शंकराचार्य के काल-निर्धारण का यह प्रकरण पृथक् रूप में अंग्रेजी में अनूदित होकर Age of Shankar शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।

वेदान्त के पश्चात् शास्त्रीजी ने अवशिष्ट वैदिक दर्शनों पर भाष्य-रचना की। वैशेषिक दर्शन का विद्योदय-भाष्य २०२६ वि० में लिखा। इसमें "भाष्यकार का निवेदन" शीर्षक देकर आपने वैशेषिक के नामकरण, सूत्रकार महर्षि कणाद, सूत्र-रचनाकाल, सूत्रपाठ और सूत्रों की संख्या, वैशेषिक में 'अभाव' नामक पदार्थ की स्वीकृति, ईश्वर-सद्भाव का प्रश्न तथा वैशेषिक सूत्रों के विभिन्न व्याख्या-ग्रन्थों एवं उनके लेखकों का परिचय जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की है। कालान्तर में उनके न्याय तथा योगदर्शन पर भी विस्तृत भाष्य छपे। इन भाष्यों की प्रमुख विशेषता यही है कि इनसे जहाँ मूल सूत्रों में निहित अभिप्राय सुस्पष्ट होता है, वहाँ तत्-तत् दर्शन के अध्ययन-प्रसंग में उत्पन्न होने वाली विभिन्न शंकाओं और समस्याओं का भी निराकरण हो जाता है।

पं० उदयवीर शास्त्री के शोध-प्रबन्ध

ग्रन्थ-रचना के अतिरिक्त शास्त्रीजी की लेखनी से प्रसूत शोध-निबन्धों का महत्त्व भी कम नहीं है। इनमें से कतिपय का उल्लेख आवश्यक है---

१. **सांख्य सूत्रों का प्राचीन नाम और इतिहास**— यह 'जर्नल ऑफ दि यू०पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी' में छपा। इसमें शास्त्रीजी ने पश्चिमी विचारकों की इस धारणा का खंडन किया है कि कपिल नाम का व्यक्ति इतिहास में कोई हुआ ही नहीं। इसी में उन्होंने सांख्य-सूत्रों की प्राचीनता भी सिद्ध की है।

२. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा को भेंट किये-गए 'सिद्ध भारती' शीर्षक अभिनन्दन-ग्रन्थ में उनका 'तिलकोपज्ञा आर्या' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक ने लोकमान्य तिलक द्वारा प्रणीत एक आर्या (श्लोक) की समीक्षा की गई है जिसे तिलक ने ईश्वरकृष्ण-रचित बताया था, किन्तु जो वास्तव में सांख्यकारिका के लेखक द्वारा रचित न होकर तिलक-रचित है। इस लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में प्रक्षेप किए जाने के लिए मध्यकालीनों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। तिलक जैसे विद्वान् भी यदि स्वोपज्ञ आर्या को अन्यप्रोक्त कहें तो यही कहना होगा कि शास्त्र-ग्रन्थों के मूलस्वरूप का संरक्षण एक कठिन कार्य है।

३. संस्कृत में लिखित शोध निबन्ध—केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि, पतंजलि-प्रणीतमध्यात्मशास्त्रम् मेधातिथीय न्यायशास्त्रम् आदि उनके प्रमुख शोध-निबन्ध हैं। "सांख्य सम्बन्धिशांकरालोचनालोचनम्" में उन्होंने शंकर की इस धारणा का खंडन किया है कि वेदान्तसूत्रों में सांख्य-मत का खंडन किया गया है। शंकर भले ही कपिल को अनीश्वरवादी ठहराता हो, किन्तु आचार्य बादरायण ने तो अपने शास्त्र में ऐसे संकेत कहीं नहीं दिए।

४. इतिहास भी शास्त्रीजी का प्रिय विषय है। 'सप्त सिन्धवः' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने डॉ० सम्पूर्णानन्द तथा इतिहासज्ञ सर देसाई की धारणाओं का खंडन किया है।

५. **दर्शन की मूल समस्याएँ**—उत्तरप्रदेश दर्शन परिषद् के १९७९ के अधिवेशन में प्रदत्त अध्यक्षीय भाषण।

आचार्य उदयवीर जी ने सत्यार्थप्रकाश के सम्पादन में स्व० स्वामी वेदानन्द का अपूर्व सहयोग दिया, जिसके परिणामस्वरूप सटिप्पण स्थूलाक्षरी सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन सम्भव हो सका।

भाष्यकार का निवेदन

समस्त भारतीय दर्शन अध्यात्म और अधिभूत का विवेचन प्रस्तुत करता है। इनमें छह वैदिक दर्शन–न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त हैं, और तीन अवैदिक–चार्वाक, आर्हत, बौद्ध दर्शन हैं। यद्यपि सामूहिक रूप से सभी दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म–अधिभूत के अन्तर्गत आजाता है, परन्तु प्रत्येक दर्शन अपने प्रधान प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूलभूत विषय के किसी-एकदेश अथवा एक अंश को लेकर प्रवृत्त हुआ है, और उसीका साङ्गोपाङ्ग व शाखा-प्रशाखा रूप से पूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है; फिर भी अध्यात्म-अधिभूत के मौलिक आधार को किसी ने उपेक्षित नहीं किया है। जहाँ अधिभूत प्रधान है, वहाँ अध्यात्म आंशिक है; और जहाँ अध्यात्म प्रधान है, वहाँ अधिभूत का विवेचन आंशिक हुआ है। इसी दृष्टि से इन दर्शनों को परखें, तो निम्न रूपरेखा सामने आती है—

न्याय—का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण' है। आद्योपान्त दर्शन का अधिक भाग प्रमाण के स्वरूप और उसके प्रयोग की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करने के लिए लिखागया है। न्याय के प्रथम सूत्र में जिन सोलह विधाओं का निर्देश है, उनमें प्रमेय के अतिरिक्त शेष 'संशय' आदि समस्त विधाओं का उपयोग केवल 'प्रमाण' के पूर्ण एवं निर्दोष स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए है। प्रमेय भी प्रमाणों का लक्ष्य-क्षेत्र होने के कारण उनके स्वरूप को निखारने में सहयोगी है। प्रमाण की सार्थकता या सफलता तभी है, जब उसके द्वारा जाना हुआ अर्थ–उपादान एवं परिहार की भावना से प्रवृत्ति के अनन्तर–अपने वास्तविक रूप में पाया-जाता है।

'आत्मा' आदि प्रमेयों में भी गम्भीरता से देखाजाय, तो उनमे एकमात्र 'आत्मा' मुख्य ज्ञात होता है। शेष–शरीर, इन्द्रिय, अर्थ [गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द], बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग, ये सब आत्मा से सम्बद्ध हैं। साक्षात् या परम्परा से इन सबका उपयोग आत्मा के लिए है। सूत्रकार ने शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य 'प्रमाण' के लक्ष्य-क्षेत्र में 'आत्मा' को विशेष स्थान देकर उसका और उससे सम्बद्ध परिस्थितियों का प्रमेय में परिगणन कर-दिया है। इससे यह भी लक्षित होता है कि सूत्रकार का संकेत प्रमाणों द्वारा शरीरादि से भिन्न आत्मा के स्वरूप को पहचानना ही मुख्य है। ऐसे सब विवेचनों का प्रधान आधार 'प्रमाण' ही रहता है।

वैशेषिक दर्शन—शेष उन सब अर्थतत्त्वों का उपपादन करता है, जो इन प्रमाणों का विवेच्य है। वह–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय–इन भाव-पदार्थों के रूप में हुआ है। इनका विवेचन उस दर्शन में केवल एक विशेष सीमा तक ही है, जो मानव आदि प्राणियों के सीधा प्रयोग अथवा अनुभव में आता है। यह अर्थतत्त्व का वही रूप है, जो प्राणी के चारों ओर विश्व के रूप में फैला हुआ है। प्राणी के जीवन में विश्व का सीधा उपयोग पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों के रूप में होता है। इन्हींका विशद विवरण वैशेषिक प्रस्तुत करता है। न्याय की सोलह विधाओं के साथ इनका कोई विरोध, असामञ्जस्य या प्रातिकूल्य नहीं है; क्योंकि न्याय के प्रमेयक्षेत्र को ही यह दर्शन पूरा करता है। इसी भावना के अनुसार सूत्रों के व्याख्याकार वात्स्यायन मुनि ने एकाधिक बार भाष्य [२।१।३४ ॥ ४।१।२८; ३८] में–जहाँ समस्त पदार्थ के निदर्शन का अवसर आया है, वहाँ–वैशेषिक प्रतिपादित द्रव्यादि छह भाव-पदार्थों का उल्लेख किया है; न्याय की सोलह विधाओं का नहीं।

कलेवर—प्रस्तुत सोलह विधाओं का–उद्देश, लक्षण, परीक्षा इन तीन भागों द्वारा न्याय में विस्तृत विवरण दियागया है, जो पाँच अध्याय–प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक होने से–दस आह्निक तथा लगभग पाँच सौ तीस (५३०) सूत्रों में पूरा हुआ है। इतना शास्त्र का कलेवर है। प्रथम अध्याय में उद्देश तथा लक्षण और अगले अध्यायों में पूर्व कथन की परीक्षा कीगई है।

शास्त्र की रचना के समय सूत्रों की ठीक संख्या कितनी रही होगी, यह निश्चितरूप से कहना कठिन है। अध्ययन-अध्यापन-काल में कुछ परिवर्त्तन होतारहा हो, यह सम्भव है। वाचस्पति मिश्र के काल [विक्रम की नवम शताब्दी] तक सूत्रों की संख्या तथा पाठ आदि में इतना सन्देहजनक परिवर्त्तन होगया था कि वाचस्पति मिश्र को सूत्रों की परीक्षा द्वारा पाठ आदि का निर्धारण कर,संशोधित सूत्रपाठ के लिए 'न्यायसूचीनिबन्ध' नामक रचना करनी पड़ी।

मूलग्रन्थों के भाष्यकारों का यह क्रम रहा है कि अनेक प्रसंगों में किसी विषय के अधिक विवेचन के लिए पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के रूप में अपना संक्षिप्त सूत्र-संदर्भ रच कर उसीकी व्याख्या भाष्य में करदेते हैं। ऐसे सन्दर्भों को व्याकरण में 'भाष्यवार्त्तिक' कहाजाता है। पतञ्जलि के व्याकरण-महाभाष्य में यह क्रम बहुत स्पष्टरूप से देखाजाता है। इन गौतमीय न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने भी अपनी रचना में उस क्रम को आश्रय दिया है। कालान्तर में ऐसे भाष्यसन्दर्भों में से कुछ सूत्ररूप में समझलियेगए हों, यह सम्भव है।

उस काल में मुद्रणकला न होने से ग्रन्थों का प्रतिलिपि कियाजाना एक व्यवसाय था। प्रतिलिपिकार व्यवसायी आज के अक्षरयोजकों (Compositers) के समान साधारण पढ़ेलिखे होते थे। पर लिपि में उनका अक्षर-विन्यास बहुत

सुन्दर,स्वच्छ व आकर्षक होता था। प्रतिलिपि करते समय किन्हीं भ्रमपूर्ण[1] कारणों से यह सम्भावना बनी रहती थी कि कहीं कोई भाष्यवार्त्तिक सूत्ररूप में लिपिकृत होजाय। अनन्तर उस पुस्तक से अन्य प्रतिलिपि करने पर ऐसे सन्दर्भों की सूत्रता दृढ़ होजाती रही है। पुरे ग्रन्थ में से ऐसे सन्दर्भों का छाँट लेना कठिन होता है, क्योंकि सूत्रता की जो कसौटी आचार्यों ने बताई है, ऐसे सन्दर्भ उस कसौटी[2] पर खरे उतर जाते हैं।

उदाहरण के लिए [२।१।२२] सूत्र विचारणीय है। प्रत्यक्ष-लक्षण की परीक्षा का यह प्रसंग है। पहले इक्कीसवें सूत्र में आपत्ति उठाई गई कि प्रत्यक्ष के लक्षण में केवल इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख कियागया; आत्म-मनःसन्निकर्ष का नहीं कियागया, जबकि कोई भी ज्ञान आत्म-मनःसन्निकर्ष के बिना होना सम्भव नहीं। यही आपत्ति अगले बाईसवें सूत्र में दिग्, देश, काल, आकाश को लक्ष्यकर उठाईगई है। कोई भी ज्ञान दिशा आदि के अस्तित्व में ही होपाता है, इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण में दिशा आदि का भी प्रत्यक्षज्ञान के कारणरूप से उल्लेख होना चाहिए।

सूत्रकार ने प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा के प्रसंग में आगे विस्तार के साथ इक्कीसवें सूत्र की आपत्ति का तो समाधान किया है, परन्तु बाईसवें सूत्र द्वारा उठाई गई आपत्ति का समस्त प्रसंग में संकेतमात्र भी नहीं किया। शास्त्रभर में कहीं अन्यत्र ऐसा स्थल दिखाई नहीं दिया, जहाँ सूत्रकार ने स्वयं कोई आपत्ति उठाई हो, और उसका समाधान न कियागया हो। इससे सिद्ध होता है, बाईसवाँ सूत्र वस्तुतः सूत्रकार की रचना नहीं है। भाष्यकार ने एक संक्षिप्त सन्दर्भ द्वारा

---

१. इसप्रकार की भ्रान्ति के कारणों में मुख्य कारण सूत्र एवं भाष्यसन्दर्भ की समानरूप से व्याख्या करना कहाजासकता है। इसीकारण की छाया में अन्य कारणों की कल्पना कीजासकती है। १. सूत्रों के समान मोटे अक्षरों या भिन्न स्याही में लिखाजाना। २. सूत्र की संख्या के समान ऐसे सन्दर्भ के साथ क्रमिक संख्या लगा देना, आदि।

२. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ [पराशरोपपुराण, अ० १८]
लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षर-पदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥
[तुलना करें, न्यायकन्दली-भूमिका, पृ० ११, विन्ध्ये० कृत, लाजरस-वाराणसी संस्करण; तथा भामती, १।१।१॥ आनन्दगिरि टीका]

यह आपत्ति उठाई, और आगे भाष्यकार ने ही उसका समाधान करदिया है। इससे निश्चित होता है, यह सन्दर्भ[1] सूत्र न होकर भाष्यवार्त्तिक है।

इसप्रकार कितने सन्दर्भ सूत्ररूप से शास्त्र में प्रक्षिप्त होचुके हों, यह निश्चितरूप में नहीं कहाजासकता। केवल इतना प्रकट करना अभिप्रेत है कि सूत्रात्मक इस न्यायशास्त्र का मूलभूत विशुद्ध कलेवर कितना रहा होगा; इसकी गम्भीरतापूर्वक परीक्षा करना अपेक्षित है।

विशिष्ट प्रकरण—उद्दिष्ट एवं लक्षित पदार्थों की परीक्षा के अवसर पर कतिपय ऐसे प्रसंग शास्त्र में आगए हैं, जिनका उद्देश सूत्र में कथन नहीं है; पर शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में उनका अत्यन्त महत्त्व है। उनमें एक मुख्य प्रसंग 'अवयवी-सद्भाव' का है। सूत्रकार ने इस विषय का विवेचन सात [२।१।३०—३६] सूत्रों द्वारा किया है। यह प्रसंग प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा के अन्तर्गत उठाया-गया कि प्रत्यक्ष प्रमाण से जो वस्तु देखीजाती है, उसका वास्तविक अस्तित्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है? क्या वह अपने रूप में एक स्वतन्त्र इकाई है, अथवा किन्हीं मूलतत्त्वों का समुदायमात्र है? यह शास्त्र, दीखनेवाली वस्तु को स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्वीकार करता है। न्याय के इस सिद्धान्त का प्रबल विरोधी बौद्धदर्शन है।

यहां अवयवी की सत्ता को सिद्ध करना अपेक्षित नहीं है; केवल यह परखना अभीष्ट है, कि प्रस्तुत प्रसंग में सूत्र अथवा वात्स्यायनभाष्य द्वारा किए-गए इस अवयवी के विवेचन में बौद्धदर्शन की छाया के कोई संकेत उपलब्ध हैं, या नहीं? गम्भीरता से सूत्र-भाष्य के इस समस्त प्रसंग का विचार करने पर प्रतीत होता है, बौद्धदर्शन की छाया इस प्रसंग में नहीं है। देखना यह है कि क्या यह विवेचन किसी विशिष्ट बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ में निरूपित अवयवि-निरास की प्रक्रिया पर आधारित है? अथवा किसी विशिष्ट बौद्ध दार्शनिक के विचारों को लक्ष्य कर लिखागया है? इस समस्त प्रसंग में कोई ऐसा संकेत या पारिभाषिक पद प्रयुक्त हुआ दिखाई नहीं देता, जिससे यह अनुमान कियाजासके कि अमुक बौद्धग्रन्थ या दार्शनिक व्यक्ति के विचारों को इस विवेचन का आधार बनाया-गया है।

इससे ज्ञात होता है, यह विवेचन साधारणरूप से इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए कियागया है कि वस्तुभूत, घट, पट आदि इकाइयां इन्द्रिय द्वारा

---

१. वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायसूचीनिबन्ध' में इसको सूत्र माना है। पर सूत्रकार ने इस आपत्ति का सूत्रद्वारा निराकरण नहीं किया, यह इसके सूत्र न होने में एक पुष्ट प्रमाण है। मिश्र ने अन्यत्र भी भाष्यवार्तिक का सूत्ररूप से उल्लेख किया है।

उपलब्ध होती हैं, वह तत्त्व की कौन-सी अवस्था सम्भव होसकती है ? इस विवेचन का सार इतना ही है कि मूलभूत तत्त्व अपनी उसी अवस्था में इन्द्रिय-गोचर नहीं होसकता; वह अवस्थान्तर को प्राप्त होकर ही इन्द्रिय का विषय बनता है; वही अवस्थान्तर स्वतन्त्र इकाई के रूप में अवयवी है।

ऐसा ही प्रसंग चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में पैंतीस सूत्रों [३-३७] द्वारा लम्बे प्रकरण में प्रस्तुत कियागया है। वहाँ पर भी किन्हीं बौद्धग्रन्थनिरूपित विशिष्ट तर्कों व युक्तियों को विवेचन का लक्ष्य बनायागया हो, ऐसा नहीं है, प्रत्युत दृष्टिगोचर होनेवाले वस्तुतत्त्व को लक्ष्य करके ही वह विवेचन प्रस्तुत कियागया प्रतीत होता है। तात्पर्य है, किसी विशिष्ट वाद को लक्ष्य न कर केवल साधारण सिद्धान्त के स्पष्टीकरण की भावना से ही इसप्रकार के विवेचन हैं।

प्रावादुक दृष्टियाँ—न्यायदर्शन में एक और प्रसंग चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक [सूत्र १४-४६ तक] में है। प्रेत्यभाव की परीक्षा में 'भाव' अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति बताने के प्रसंग से कतिपय वादियों के विचारों का सूत्रकार ने विवेचन किया है, जो वस्तु की उत्पत्ति आदि के विषय में है। वे आठ वाद इसप्रकार हैं—

१. अभावकारणवाद,	[सूत्र १४-१८ तक]
२. ईश्वरकारणवाद	,, १९-२१ ,,
३. अनिमित्तवाद	,, २२-२४ ,,
४. सर्वानित्यत्ववाद	,, २५-२८ ,,
५. सर्वनित्यत्ववाद	,, २९-३३ ,,
६. सर्वपृथक्त्ववाद	,, ३४-३६ ,,
७. सर्वाभाव-(शून्य)-वाद	,, ३७-४० ,,
८. संख्यैकान्तवाद	,, ४१-४६ ,,

इन वादों के विषय में ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना अवसरप्राप्त नहीं है। वह दर्शन का इतिहास लिखते समय कियाजासकेगा। ऐसे प्रसंग ग्रन्थकार-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करने में उपयुक्त प्रकाश डालसकते हैं।

सूत्रकार गौतम, उसका काल—न्यायसूत्रों के **रचयिता** का 'गौतम' यह गोत्रनाम है। इनका सांस्कारिक नाम मेधातिथि था। **कभी** अतिप्राचीन काल में सरस्वती नदी के स्रोत भौगोलिक कारणों से अवरुद्ध होजाने पर सारस्वत प्रदेश का राजा विदेघ माथव जीवननिर्वाह के साधनों में बाधा होजाने के कारण अपने पुरोहित गोतम राहूगण की सलाह के अनुसार सारस्वत प्रदेश को छोड़कर पूर्व दिशा की ओर चलकर 'सदानीरा' नामक नदी के पश्चिम तट पर आपहुँचा।

वर्त्तमान अम्बाला जिला और उसके आस-पास का पश्चिम-दक्षिण की ओर का विस्तृत भू-भाग उस काल में सारस्वत प्रदेश था। जब ये लोग बसने के विचार से किसी भू-भाग की खोजमें पूर्व की ओर चलकर कोशल देशों को पार करते हुए सदानीरा के बाएँ तट पर पहुँचे, तो राजा विदेघ माथव ने अपने पुरोहित व मन्त्री गोतम राहूगण से कहा, हम लोग सारस्वत प्रदेश से पश्चिम की ओर इसलिए नहीं गए कि वे देश दूर तक बसे हुए हैं, उधर बसने के लिए मानव-रहित भूभाग का मिलना सम्भव न था। उत्तर की ओर पर्वतीय ऊबड़-खाबड़, ऊँचे-नीचे प्रदेश हैं। नीचे का दक्षिणी भाग सरस्वती के स्रोत रुद्ध होजाने से ऊजड़ होगया है, तब आपकी सलाह के अनुसार निवासयोग्य भूमि मिलजाने की आशा से पूर्व दिशा की ओर चले आए। अब सदानीरा (वर्त्तमान गण्डक) नदी सामने आगई। सुनाजाता है, आजतक मानव ने इसे पार नहीं किया; और इसके पूर्व की ओर का भूभाग दलदली (स्रावितर) प्रदेश है, अब क्या किया-जाए?[1]

गोतम राहूगण ने उत्तर दिया, राजन्! यदि आज तक इस नदी को किसी मानव ने पार नहीं किया, तो हम करेंगे। आपने जो नदी के पूर्व की ओर के भूभाग को दलदली प्रदेश बताया, वह बहुत पुराने समय की बात है। अब वह मानवनिवास के अयोग्य (अक्षेत्रतर) नहीं है। यह सुन राजा विदेघ माथव ने अपने साथी प्रजाजनों, पारिवारिक वर्ग व मन्त्री-पुरोहित आदि के साथ सदानीरा नदी को पारकर हिमालय-पर्वतश्रेणियों की तराई में अपने नाम से 'विदेघ' नामक प्रदेश बसाया, जो कालान्तर में उच्चारण-भेद से 'विदेह' कहाजाने लगा। शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल तक इसका नाम 'विदेह' होचुका था।

उस विदेह राजवंश के कुलक्रमागत पुरोहित व कुलगुरु–गोतम राहूगण के वंशधर होतेरहे। इसी कारण ये 'गौतम' गोत्र नाम से सदा प्रसिद्ध रहे। भारत में सदा से यह परम्परा रही है कि व्यवहार में व्यक्ति का सांस्कारिक नाम न लेकर गोत्रनाम, वंशनाम अथवा किसी उपनाम से व्यवहार होतारहता है। गौतम गोत्र के न मालूम कितने व्यक्ति होगए होंगे, जिनके सांस्कारिक नामों का हमें नितान्त भी पता नहीं है। न्यायशास्त्र के रचयिता गौतम का सांस्कारिक नाम साहित्य के एक कोने में सुरक्षित रहगया है। भास कवि ने प्रतिमा नाटक (अंक ५) में इसका उल्लेख किया है। विदेह राजवंश के पुरोहितों व

१. **यह प्रसंग शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१०-१७] के एक सांकेतिक निर्देश के आधार पर लिखागया है। इसका उल्लेख अब से लगभग पचास वर्ष पूर्व अपनी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' [पृ० ५६--६१] में कुछ विस्तार के साथ किया है।**

गुरुओं के उस प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित एवं अनूचान कुल में मेधातिथि का जन्म हुआ।

इसके काल का पता लगाना कठिन है, पर भास ने जिस प्रसंग में और जिस रीति पर इसका उल्लेख किया है, उससे काल का कुछ अनुमान कियाजा-सकता है। विन्ध्यवन के जनस्थान में रहते राम के निवास पर परिव्राजक वेष में रावण आता है। वह अपने अधीत विभिन्नविषयक शास्त्रों के नाम गिनाता है। उस गणनाक्रम में मेधातिथिरचित न्यायशास्त्र का उल्लेख है। सांगोपांग वेदाध्ययन की बात कहकर मानवीय धर्मशास्त्र, माहेश्वर योगशास्त्र, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र तथा मेधातिथि के न्यायशास्त्र का नाम लिया है। प्रतीत होता है, भास के काल तक परम्परा आदि किन्हीं आधारों पर यह जानकारी रही, कि गौतमगोत्रीय न्यायशास्त्र के रचयिता का सांस्कारिक नाम मेधातिथि है। इस गौतम गोत्र में एक और व्यक्ति के सांस्कारिक नाम शतानन्द का पता लगता है, जिनकी माता अहल्या के—भगवान् राम द्वारा—उद्धार की कथा कहीजाती है।

नाटकीय मञ्च के प्रवीण विशेषज्ञ भास के द्वारा ऐसी बात लिखीजाने की आशंका नहीं कीजासकती, जिसमें कालिक असामञ्जस्य की सम्भावना हो। इससे यह अनुमान कियाजासकता है कि राम-रावण का इतिहास में जो समय हो, उससे पूर्व गौतम-गोत्रीय मेधातिथि ने न्यायशास्त्र की रचना की। इसका ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विवेचन शास्त्र का इतिहास लिखेजाने के अवसर पर किया-जासकता है।

न्याय का प्रस्तुत भाष्य—अपने जीवन का कार्यकाल प्रारम्भ होने के साथ लगभग साठ-पैंसठ वर्ष पूर्व भारतीय दर्शनों पर कुछ अभिनव लेखन की भावना जागृत हुई थी। इसका विशेष कारण था, उन प्रसंगों व विचारों की जानकारी, जो विदेशी विद्वानों ने भारतीय वाङ्मय के विषय में अभिव्यक्त किए; परन्तु उन निर्णयों में भारतीय परम्पराओं व इतिहास आदि के साथ सामञ्जस्य की अवहेलना करदीगई थी, जबकि उनकी पृष्ठभूमि दृढ़, समुचित एवं न्याय्य आधारों पर प्रतिष्ठापित रही है। इसके फलस्वरूप सन् १९१६ ई० के मार्च में कलकत्ता विश्वविद्यालय की सांख्य-योगतीर्थ परीक्षा देने के अनन्तर सांख्यविषयक इतिवृत्त के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। अनेक पारदर्शी विद्वानों के साथ इस विषय की चर्चा व परामर्श चलता रहा। अन्तराल में अनेक विघ्न-बाधाओं के कारण वर्षों के लिए यह कार्यक्रम विच्छिन्न रहा। अवसर पाकर पुन: प्रारम्भ हुआ। इसप्रकार के व्यवधान जीवन-निर्वाह के साधनों में उलट-फेर के कारण होते रहे। लगभग चौबीस-पच्चीस वर्ष का समय लगाकर पहला ग्रन्थ **'सांख्य दर्शन का इतिहास'** लिखाजासका।

उन दिनों लाहौर में निवास था। वहीं यह कार्य पूरा हुआ। ये वही दिन

था, जब देश-विभाजन के लिए राजनीतिक क्षेत्र में महान् संघर्ष जारी था। भारतीय वाङ्मय के गम्भीर विद्वान् होने के साथ अरबी, फ़ारसी तथा योरोपीय अनेक भाषाओं के जानकार श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ ने कुछ वर्ष पूर्व लाहौर 'गुरुदत्त भवन' में 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' नाम से एक अकादमिक शोध-संस्था की स्थापना की थी। उन दिनों उसी संस्था के साथ सम्बद्ध होकर मेरे द्वारा यह सांख्यविषयक लेखन-कार्य चलरहा था। देशविभाजन के कारण सन् १९४७ ई० में लाहौर बलात् छोड़ना पड़ा। संस्थान का लगभग डेढ़ लाख से भी अधिक मूल्य का विशाल पुस्तकालय वहीं रहगया। किसीप्रकार 'सांख्यदर्शन का इतिहास' की पाण्डुलिपि साथ लाईजासकी। लगभग दो वर्ष के अनन्तर अवसर पाकर संस्थान का कार्य हरद्वार के समीप ज्वालापुर में प्रारम्भ किया-गया, पर वहाँ भी बाधाओं ने पीछा न छोड़ा। स्वामी वेदानन्दतीर्थ रोग के कारण ज्वालापुर-निवास छोड़कर दिल्ली आगए। कुछ समय तक हरद्वार के शिक्षाकेन्द्रों में निर्वाहार्थ कार्य करते हुए मुझे बीकानेर 'शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ' में प्रधानाचार्य-पद पर सेवा करने का अवसर मिलगया। इस कार्य में बीकानेर के गीतानिष्ठ श्रेष्ठी श्री रामगोपाल मोहता का विशेष सहयोग था। मेरा उनका परिचय गीता के माध्यम से लगभग बीस वर्ष पहले से चलरहा था।

लगभग चार वर्ष विद्यापीठ की सेवा में रहा। इसप्रकार सात-आठ वर्ष तक संस्थान का कार्य विच्छिन्न रहा। ज्वालापुर रहते 'सांख्यदर्शन का इतिहास' प्रकाशित होगया था। जब बीकानेर से सेवानिवृत्त होने को था, उन्हीं दिनों दिल्ली में रहते श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ का अकस्मात् हृदयगति-अवरोध से देहावसान होगया। इस दुर्घटना की सूचना मुझे समाचार पत्रों द्वारा बीकानेर में प्राप्त हुई। संस्थान का कार्य आगे चलने की रही-सही आशा भी इस घटना से किसी तह तक धूमिल होगई। तब मैंने संस्थान के मन्त्री श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री M. A. को सहानुभूतिपत्र बीकानेर से लिखा। शास्त्री जी उन दिनों दिल्ली राज्यसभा कार्यालय में कार्यरत थे।

इधर परोक्ष दैवी शक्तियाँ जाने-अनजाने कुछ प्रेरणा प्रदान कररही थीं। अभी मैं बीकानेर ही था, थोड़ा समय बीतने पर पं० सत्यानन्द शास्त्री का पत्र मिला, 'आप बीकानेर से सेवानिवृत्त होकर संस्थान के कार्य को इधर आकर सम्भाल लें।' सन् १९५८ ई० के जुलाई मास में बीकानेर छूटा। तीन-चार महीने घर अपने भावी जीवन के कार्यक्रम का निश्चय करने में लग गए। अन्त में दिल्ली आकर पं० सत्यानन्द शास्त्री से मिलने पर ज्ञात हुआ कि संस्थान की अध्यक्षता व संचालन का कार्यभार श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने सम्भालना स्वीकार करलिया है। उन्होंने गाजियाबाद में 'संन्यास आश्रम' की स्थापना की है।

श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ ज्वालापुर छोड़ने के अनन्तर दिल्ली निवास के समय दिल्ली से कुछ दूर खेड़ा खुर्द ग्राम की भूमि में नहर के बाएँ तट पर एक स्थान में आश्रम बनाकर रहा करते थे। त्यागी, तपस्वी, अध्ययनशील विद्वान् थे, वहाँ रहते विभिन्न विषयों की पुस्तकों का पर्याप्त संग्रह होगया था। उन्हीं दिनों श्री स्वामी जी ने महर्षि दयानन्द के अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ लिखीं, तथा सटिप्पण सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण-प्रकाशन का प्रबन्ध किया। अभी पूरा छपकर सत्यार्थप्रकाश का कार्य सम्पन्न नहीं होपाया था कि श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी का निधन होगया। इस कार्य को अपने अथक परिश्रम से पं० सत्यानन्द शास्त्री ने पूरा किया। स्वामीजी के जीवनकाल में भी इस ग्रन्थ के मुद्रण-प्रकाशन आदि सब कार्यों का प्रबन्ध बड़ी संलग्नता से शास्त्री जी ही करते रहे हैं।

इस स्थिति में श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती द्वारा संस्थान का कार्य-भार पूर्णतया सम्भाल लेने पर खेड़ा खुर्द से श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ का पुस्तकालय आदि सामान–श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी तथा पं० सत्यानन्द शास्त्री के सबल प्रयत्न से–उठाकर 'गाजियाबाद संन्यास आश्रम' में स्थानान्तरित करदिया-गया। मेरे इधर आने से कुछ दिन पूर्व यह कार्य सम्पन्न होचुका था। सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम संस्करण भी समाप्तप्राय था। दिनाङ्क १८ नवम्बर, सन् १९५८ ई० को यहाँ आकर मैंने कार्य आरम्भ किया। उस समय संस्थान की आर्थिक दशा अत्यन्त क्षीण थी। इसका समस्त भार श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी ने अपने ऊपर लेलिया। उन्होंने अकेले ही इस कार्य को जिस अभिनन्दनीय रीति पर निभाया, उसका जोड़ बहुत कम मिलेगा।

लगभग इन अठारह वर्षों में जो कार्य सम्पन्न हुआ है, वह संक्षेप में निम्न प्रकार है—

१. सत्यार्थप्रकाश—के दो संस्करण। दूसरा–दो सहस्र; तीसरा–तीन सहस्र। यहाँ आकर पहले मैंने द्वितीय संस्करण के कार्य को प्रारम्भ किया। प्रकाशित होने पर यह संस्करण जल्दी बिकगया। एक सहस्र के लगभग प्रतियाँ तो 'मथुरा दीक्षा-शताब्दी समारोह' के अवसर पर निकल गईं। तृतीय संस्करण की तैयारी होने तक अन्तराल-काल में दर्शन-सम्बन्धी लेखनकार्य चलता रहा। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय संस्करण में कुछ विशेष कार्य हुआ।

क—अकारादि क्रम से समस्त सत्यार्थप्रकाश की विषयनिर्देशिका तैयार कीगई, जिसमें छह सहस्र के लगभग शीर्षक हैं।

ख—'सम्पादकीय' शीर्षक के नीचे–जो ग्रन्थ के प्रारम्भ में मुद्रित हुआ–अनेक सन्दिग्ध पाठों के विषय में प्रामाणिक सुझाव दिएगए हैं।

ग—'स्पष्टीकरण' शीर्षक के नीचे कतिपय सत्यार्थप्रकाश के ऐसे पाठों

के विषय में स्पष्टीकरण दियागया है, जिनको कहाजाता है कि ये अनायास समझ में नहीं आते। इसके अतिरिक्त दर्शन आदि सम्बन्धी जो कार्य हुआ है, उसका विवरण नाम-संकीर्तनमात्र से निम्न प्रकार है—

२. **सांख्यसिद्धान्त**—कापिल सिद्धान्तों के ऊहापोहपूर्वक विवेचन के रूप में मौलिक ग्रन्थ। पृ० सं० ५६८

३. **सांख्यदर्शन-विद्योदयभाष्य**—आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लिखागया, कापिल षडध्यायी सूत्रों का भाष्य। पृ० ३६८

४. **ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) विद्योदयभाष्य**—किसी भी सम्प्रदाय की छाया से रहित, गुरुपरम्परा-प्राप्त सूत्र पदों के अनुकूल व्याख्या। पृ० ८२८

५. **वेदान्तदर्शन का इतिहास**—सामयिक परिप्रेक्ष्य में अनेक मौलिक तत्त्वों के उपपादन के साथ, ब्रह्मसूत्रों के रचयिता बादरायण तथा भाष्यकार शंकराचार्य के विषय में प्रचारित अनेक भ्रान्तियों के प्रमाणयुक्त निराकरण से पूर्ण मौलिक रचना। पृ० ५१२

६. **वैशेषिकदर्शन विद्योदयभाष्य**—यह कणाद सूत्रों का भाष्य मध्यकालिक व्याख्याओं की छाया से आंशिक रूप में रहित है, तथा भारतीय दर्शन में विवेचित तत्त्वों का आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर कसने का यथासम्भव प्रयास इसमें कियागया है।

इन प्रकाशनों के अतिरिक्त इस बीच संस्थान ने छोटे-बड़े लगभग चौबीस ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, जिनमें चार ग्रन्थों—आर्याभिविनय (हिन्दी), आर्याभिविनय (इंग्लिश), वैदिक सन्ध्या (इंगलिश), 'क्या प्राचीन आर्य लोग मांसाहारी थे?' के सम्पादक, लेखक श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री, M. A. हैं। शेष ग्रन्थों के लेखक संस्थान के संस्थापक दिवंगत श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ हैं। उनका सम्पादन पं० सत्यानन्द शास्त्री तथा मेरे द्वारा हुआ है।

दार्शनिक ग्रन्थों के लेखन व प्रकाशन की मेरी भावना युवावस्था के प्रारम्भ में जो जागृत हुई थी, अनेक व विविध प्रकार की कठिन–कठिनतर बाधाओं को लांघती हुई, पूर्वोक्त उन अभिनन्दनीय आत्माओं के सब प्रकार के गहरे सहयोग के द्वारा, यहाँ तक पहुँच गई है।

आभार-प्रकाशन—प्रस्तुत ग्रन्थ न्यायदर्शन के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग के अतिरिक्त प्रेरणा व उत्साहप्रदान के रूप में–करनाल-निवासी अनुपम वदान्य, ऋषिभक्त, भारतीय वैदिक संस्कृति में निष्ठा रखनेवाले, सौजन्यमूर्त्ति श्री प्रतापसिंह चौधरी का–हृदयग्राही सहयोग प्राप्त हुआ है। संस्थान गहरी आत्मीय भावनाओं के साथ उनके सहयोग का आदर करता है।

लगभग दो महीने से ब्र० धर्मवीर, व्याकरणाचार्य मेरे पास दर्शनशास्त्र अध्ययन के लिए आये हुए हैं। उन्होंने अपेक्षित प्रूफ़-संशोधन, सूत्रसूची आदि

का सकलन तथा प्रेस-सम्बन्धी कार्यों के विषय में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। अन्तरात्मा उनके कार्य से सन्तुष्ट है। अपनी समस्त आन्तरिक भावनाओं से उनके कल्याण की कामना करता हूँ।

अजय प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, के मालिक श्री अमरनाथ एवं श्री साँवलदास जी का आभार हृदय से स्वीकार करता हूँ। उन्होंने निर्धारित समय पर ग्रन्थ का मुद्रण सम्पन्न कर इस कार्य में प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया है। साथ ही प्रैस के समस्त कर्मचारियों के लिए साधुवाद प्रकट करता हुआ इस विभाग के निरीक्षक कार्यकर्त्ता पं० रामसेवक मिश्र का आभार अभिव्यक्त करना भूल नहीं सकता। प्रूफ में प्रदर्शित संशोधनों के सावधानतापूर्वक ठीक करने तथा कार्य को समय पर पूरा करने में उन्होंने अपनी ओर से कोई न्यूनता नहीं होने दी।

संस्थान का भावी कार्य तथा साधन—जैसा प्रकट कियाजाचुका है, सभी दर्शनों के भाष्य तथा अपेक्षित इतिहास आदि के लेखन का संकल्प लेकर इस कण्टकाकीर्ण पथ पर चलना प्रारम्भ किया था। पर्याप्त मार्ग तै होचुका है। जीवन का पथ भी उसीके साथ धीरे-धीरे पूरा होने को जारहा है। पर मुझे इसकी कोई जल्दी नहीं, इसका लेखा-जोखा प्रभु के हाथ है; जब तक चाहे, कार्य कराएगा। पर आर्थिक स्रोत की प्रगति में शिथिलता आरही है।

संस्थान के अध्यक्ष श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी की आयु पिच्यानवे वर्ष के लगभग होचुकी है, स्वास्थ्य सर्वथा साथ छोड़ता जारहा है। स्मरणशक्ति धीरे-धीरे जवाब देती जारही है। जो अर्थस्रोत उनके कर्मठ जीवन, प्रभाव व परिश्रम से अविरत प्रवाहित रहा है, उसमें चिन्तनीय बाधा उपस्थित होगई है। भावना यही है, प्रभु इस कार्य को चालू रक्खेगा, और स्रोतस्विनी शक्ति सामने आएगी। लगन से कार्य करते रहना अपना कर्त्तव्य है।

प्रकाश्यमान ग्रन्थ—योगदर्शन का विद्योदयभाष्य लिखा हुआ तैयार है। सम्भव है, आगामी शीतऋतु तक उसके प्रकाशन का प्रबन्ध होजाय। उसके अतिरिक्त कतिपय ग्रन्थ इसप्रकार हैं—

१. प्राचीन सांख्य सन्दर्भ
२. वैशेषिकदर्शन तथा न्यायदर्शन का इतिहास
३. ऋग्वेद के ऋषि
४. मीमांसादर्शन-भाष्य आदि।

वैशाख कृष्ण १४, रविवार,
सं० २०३४ विक्रमी

—उदयवीर शास्त्री

विषय-सूची

प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

द्वितीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

❀ ओ३म् ❀

न्यायदर्शनम् । गौतमीयम् ।

विद्योदयभाष्यसहितम्

प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम्

भारतीय वैदिक दर्शनों में गौतमीय न्यायदर्शन अर्थ-तत्त्व को समझने की प्रक्रियाओं का सर्वांगपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। यह विवरण इतना वस्तुनिष्ठ है कि प्रारम्भ से लेकर विचार के अन्तिम स्तर तक इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सभी वैदिक-अवैदिक दर्शनों को अपने मान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय इस पद्धति का प्रयोग करना अपेक्षित होता है।

भारतीय छह वैदिक दर्शनों को तीन जोड़े के रूप में स्वीकार कर समान-शास्त्र कहा है। जैसे सांख्य-योग तथा पूर्वोत्तर-मीमांसा परस्पर समान-शास्त्र हैं, ऐसे ही न्याय-वैशेषिक समान-शास्त्र हैं। कहना चाहिये, ये शास्त्र अपने विशेष प्रतिपाद्य अर्थ का विवरण प्रस्तुत करते हुए एक-दूसरे के पूरक हैं। वैशेषिक जहां पदार्थ और उनके धर्मों का उल्लेख, संगणन एवं स्वरूप का विवेचन करता है, वहां न्यायदर्शन उन पदार्थों व धर्मों के जानने-समझने की प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण करता है।

इस दिशा में न्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण' है। समस्त दर्शन का अधिक भाग प्रमाण के स्वरूप और उसके प्रयोग की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करने के लिए लिखागया है। न्याय के प्रथम सूत्र में जिन सोलह विधाओं का संक्षेप से निर्देश है, उनमें 'प्रमेय' के अतिरिक्त शेष 'संशय' आदि समस्त विधाओं का उपयोग केवल 'प्रमाण' के पूर्ण एवं निर्दोष स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए है। प्रमेय भी प्रमाणों का लक्ष्य-क्षेत्र होने के कारण उनके स्वरूप को निखारने में सहयोगी है; क्योंकि प्रमाण की सार्थकता या सफलता तभी है, जब उसके द्वारा जाना हुआ अर्थ—उपादान एवं परिहार की भावना से प्रवृत्ति के अनन्तर—अपने वास्तविकरूप में पायाजाता है।

न्यायशास्त्र में 'आत्मा' आदि बारह प्रमेय गिनाये हैं। गम्भीरता से देखा-जाय, तो इनमें केवल 'आत्मा' मुख्य है। शेष—शरीर, इन्द्रिय, अर्थ [गन्ध, रस,

रूप, स्पर्श, शब्द], बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग, ये सब 'आत्मा' से सम्बद्ध हैं। साक्षात् या परम्परा से इन सबका उपयोग आत्मा के लिये है। सूत्रकार ने शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण के लक्ष्य-क्षेत्र में आत्मा को विशेष स्थान देकर उसका और तत्सम्बन्धी परिस्थितियों का 'प्रमेय' में परि-गणन करदिया है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्रकार के आशय को अन्तर्दृष्टि से समझ शास्त्र के प्रारम्भ में समस्त यथार्थता व 'तत्त्व' को चार विधाओं में परिसमाप्त माना है—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति। वस्तुतः अर्थतत्त्व को समझने और उसके विवेचन की यह उपयुक्त प्रक्रिया है। इस प्रकार के समझने और विवेचन का प्रधान आधार 'प्रमाण' है। उसीका सांगोपांग पूर्ण निरूपण न्यायशास्त्र में हुआ है।

वह अर्थतत्त्व क्या है, जो इन प्रमाणों का विवेच्य है? इस भाग को वैशेषिकदर्शन पूरा करता है। इन दोनों के समान-शास्त्र मानेजाने का यही आधार है। यद्यपि गौतमीय न्यायसूत्रों में प्रमाणों के विवेच्य 'प्रमेय' पदार्थ का उल्लेख हुआ है, तथापि सूत्रव्याख्यान में जहाँ समस्त पदार्थ के निर्देश का अवसर आया है, वहाँ सूत्रकार के आशय को समझते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने एकाधिक बार वैशेषिक-प्रतिपाद्य द्रव्यादि छह भाव-पदार्थों का स्पष्ट उल्लेख किया है।[१] गौतमीय सूत्रों के प्रमेय का नहीं।

भाष्यकार वात्स्यायन के निर्देशानुसार—प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना 'न्याय' है। ऐसे शास्त्र—जिनमें प्रमाण द्वारा पदार्थविद्या का विवेचन हुआ है—'आन्वीक्षकी' विद्या के अन्तर्गत मानेजाते हैं। आन्वीक्षकी विद्या में सांख्य, योग और लोकायत दर्शन का परिगणन कियाजाता है।[२] इन दर्शनों में सृष्टि-प्रक्रिया एवं भौतिक तत्त्वों का मुख्यतया विस्तृत विवेचन हुआ है।

कौटल्य-प्रयुक्त 'योग' पद का अर्थ

कतिपय आधुनिक विद्वानों का विचार है—यहाँ आन्वीक्षकी विद्या में न्याय-वैशेषिक की गणना नहीं कीगई। परन्तु उनका ऐसा विचार नितान्त भ्रान्त धारणा पर आधारित कहाजासकता है। प्रतीत होता है, यहाँ प्रयुक्त 'योग' पद के वास्तविक अर्थ को समझने में उन्हें भ्रम हुआ है। वस्तुतः उक्त तीन

---

१. द्रष्टव्य, न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य २। १। ३४॥ तथा ४। १। २८; तथा ३८॥

२. 'आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।...सांख्यं योगो लोका-यतञ्चेत्यान्वीक्षकी।' कौट० अर्थ० १। २। १, १०॥

नामों में 'योग' पद न्याय और वैशेषिक के लिए प्रयुक्त है। इस पद का इसी अर्थ में प्रयोग गौतमीय न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने किया है।[1] सम्भवतः इस पद का प्रयोग किसी काल में पातञ्जलदर्शन तथा काणाद-गौतमीय-दर्शन दोनों के लिए होतारहा है।

आकृति व उच्चारण से पद समान होने पर भी धात्वर्थ के आधार पर उनका भेद है। पातञ्जलदर्शन के लिए 'योग' पद 'युज समाधौ' धातु से तथा काणाद-गौतमीयदर्शन के लिए 'युजिर् योगे' धातु से निष्पन्न होता है। परमाणुओं के योग से सृष्टि-प्रक्रिया मानने के कारण न्याय-वैशेषिक के लिए 'योग' पद का प्रयोग कियाजातारहा है। कालान्तर में इस पद का प्रयोग लुप्त होगया, समाधि अर्थवाला 'योग' प्रचलित रहा। आज साधारणरूप में इसका यही अर्थ जाना-जाता है।

शास्त्रारम्भ का प्रयोजन

परमकारुणिक महामुनि गौतम ने—इन सब भावनाओं के साथ यह समझते हुए कि जन-समाज जिस वातावरण के बीच रहता है, एवं उसके चारों ओर जो यह स्थूल जगत् बिछा पड़ा है, और इसके पीछे जो अन्तर्हित व्यक्त-अव्यक्त तत्त्व है, उस सबकी यथार्थ जानकारी के लिए उपयुक्त एवं व्यावहारिक साधनों का परिचय देना मानवजीवन के सर्वविध कल्याण के लिए आवश्यक है—प्रस्तुत शास्त्र का प्रवचन किया, जिसका प्रथम सूत्र है—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

[प्रमाण—निग्रहस्थानानाम्] प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति,

---

१. द्रष्टव्य न्यायसूत्र [१।१।२९] का वात्स्यायनभाष्य। प्रतितन्त्रसिद्धान्त बताने की भावना से वहाँ सांख्यमत का निर्देश है—'यथा नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानं, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेष इति सांख्यानाम्।' स्पष्ट है, ऐसा मत कापिल सांख्य और पातञ्जलयोग दोनों का समान है।

वहाँ न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त इसप्रकार दिया है—'पुरुषकर्मादि-निमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्।' स्पष्ट ही यहाँ 'योग' पद न्याय-वैशेषिक के लिए प्रयुक्त है।

निग्रहस्थानों के [तत्त्वज्ञानात्] यथार्थज्ञान से [निःश्रेयसाधिगमः] मोक्ष एवं कल्याण की प्राप्ति होती है।

सूत्र में तीन समस्त [समास-युक्त] पद हैं। पहला है—'प्रमाण' से लगाकर 'निग्रहस्थानानां' तक। 'च' के अर्थ में यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। 'च' का अर्थ होता है—'और'। प्रमाण और प्रमेय और संशय…और निग्रहस्थान ये सब एक-दूसरे के साथ मिलकर एक पद के रूप में यहाँ प्रस्तुत कियेगये हैं। संस्कृत में इनका विग्रह इसप्रकार बोलाजायगा—'प्रमाणानि च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनं च…निग्रहस्थानं च, एषां इतरेतरयोगः-प्रमाणप्रमेयसंशय… निग्रहस्थानानि, तेषां प्रमाणप्रमेय…निग्रहस्थानानाम्'।

जिज्ञासा—संस्कृत में विग्रह करते समय 'प्रमाण' पद नपुंसकलिंग बहुवचन में, 'प्रमेय' नपुंसकलिंग एकवचन में, 'संशय' पुंल्लिंग एकवचन में,…'निग्रहस्थान' नपुंसकलिंग एकवचन में प्रयुक्त हुए। ऐसा भेद क्यों कियागया?

समाधान—सूत्रकार ने आगे प्रमाण, प्रमेय आदि के उद्देश अथवा लक्षण सूत्रों में इन पदों का प्रयोग जिस लिंग और जिस वचन में किया है, उसीके अनुसार विग्रह में इन पदों का प्रयोग अपेक्षित है, इसीकारण यह भेद है।[1]

दूसरा पद है—'तत्त्वज्ञानात्' और तीसरा है—'निःश्रेयसाधिगमः'। इन दोनों पदों में षष्ठी तत्पुरुष समास है। 'तत्त्व' क्या है? जो जैसा पदार्थ है, उसका उसीरूप में प्रतीत होना। जैसे सत् पदार्थ सद्रूप में जानागया 'तत्त्व' है; ऐसे असत् पदार्थ असद्रूप में जानागया 'तत्त्व' है। इसप्रकार प्रमाण आदि पदार्थों को वास्तविक रूप में जानलेना मानव के सब प्रकार के कल्याण का साधक है।

इस शास्त्र के आरम्भ करने का मुख्य प्रयोजन 'प्रमाण' के यथार्थस्वरूप को सर्वांगपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना व समझाना है। इसीकारण सूत्र में इसका सर्वप्रथम निर्देश हुआ। प्रमाण प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान का साधन है। जो पदार्थ प्रमाण से जानाजाता है, वह सब 'प्रमेय' कहाजाता है। प्रस्तुत शास्त्र में 'प्रमेय' पद से जिनका संकलन हुआ है, वह केवल उपलक्षण है, प्रतीक व संकेतमात्र। प्रमाण का लक्ष्य-क्षेत्र प्रमेय है, अतः प्रमाण के अनन्तर 'प्रमेय' पद का पाठ है। सूत्र में समस्त पदों की आनुपूर्वी सुसंघटित एवं सप्रयोजन है। ऐसा नहीं है कि बिना किसी भावना के चाहे जो पद चाहे जहाँ रखदिया हो।

---

१. इसके लिए निम्नसंख्याङ्कित सूत्रों को देखें—
१।१।३॥ १।१।६॥ १।१।२३-२६; ३२; ४०; ४१॥
१।२।१-४; १०; १८; १६॥

सूत्र में पदानुपूर्वी सप्रयोजन

प्रमाण की प्रवृत्ति प्रमेय में तभी होती है, जब संशय अंकुरित होता है; अतः प्रमेय के अनन्तर 'संशय' का पाठ है। संशय तभी जागृत होता है, जब व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य से कहीं प्रवृत्त होनाचाहता है, तब आगे 'प्रयोजन' पढ़ागया। विशिष्ट प्रयोजन पहले किसी अनुकूल अनुभव के आधार पर उभरता है, अतः आगे 'दृष्टान्त' कहा। उसके बल पर ही सिद्धान्त प्रकाश में आता है, तब आगे 'सिद्धान्त' कहा। यह सब खेल जिन पर अवलम्बित है, वे 'अवयव' उनके आगे पढ़ेगये। अवयवों के प्रसंग में ऊहापोह द्वारा कोई निर्णय निखार में आता है, अतः आगे तर्क और निर्णय पढ़गये हैं। इसप्रकार के कथनोपकथन केवल तीन विधाओं में सम्भव हैं, आगे उन्हींका उल्लेख है—वाद, जल्प और वितण्डा। इनमें उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ है, इसी आधार पर इनका क्रम है। ऐसी चर्चाओं में दब आने पर व्यक्ति अपनी खाल को बचाने के लिए दूषित प्रयोग करता है, उन्हींको अन्त में हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान पदों से अभिव्यक्त किया है। इनमें भी दूषण की दृष्टि से पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं; यही इनके क्रम का आधार है। इसप्रकार प्रथम सूत्र में उन सोलह विधाओं का निर्देश है, जिनके विषय में शास्त्र द्वारा विवेचन प्रस्तुत किया-जाना है।

आन्वीक्षकी विद्या, उसका फल—जैसा प्रथम कहा गया, शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन प्रमाण के निखरे स्वरूप को बताना है; उसीके लिए संशय आदि विधाओं का यहाँ निरूपण हुआ है। अन्यथा, केवल अध्यात्म तत्त्वों का कथन करने से यह शास्त्र उपनिषद् आदि के समान—विद्या की चार विधाओं में से—त्रयी के अन्तर्गत मानाजाता। संशय आदि के निरूपण के कारण इसकी गणना विद्या की आन्वीक्षकी विधा में कीगई है। इसप्रकार प्रमाण आदि विभिन्न विधाओं के रूप में निरूपित यह आन्वीक्षकी-शास्त्र सब प्रकार के ज्ञानों को प्रकाश में लाने के लिए प्रदीप के समान है। सभी प्रकार के अनुष्ठानों का यह एकमात्र उपाय है। सब धर्मों का यह आश्रय है। क्योंकि प्रमाण-प्रतिष्ठा के बिना इन सबका होना सम्भव नहीं होता। प्रत्येक शास्त्रीय तत्त्वार्थ-विवेचन व व्यवस्था, समस्त लोकव्यवहार तथा धर्मानुष्ठान आदि में प्रमाणादि पदार्थ महान् उपकारक होते हैं।

विद्या के चार क्षेत्र

विद्या के चार प्रकार-विभाग अथवा चार विस्तृत क्षेत्र बताये—आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति।

१. पहले प्रकार में समस्त दर्शनशास्त्रों—आस्तिक-नास्तिक दर्शनों तथा

उपनिषद् आदि का समावेश है, जो जड़-चेतन अथवा आत्मा-अनात्मा के विवेचन को तर्क-प्रणाली से प्रस्तुत करते हैं, एवं प्रधानरूप से अध्यात्म-विद्याओं का विस्तृत प्रतिपादन करते हैं।

२. दूसरे प्रकार में समस्त यज्ञादि अनुष्ठान एवं धार्मिक कर्मकाण्ड का समावेश है। इसके अतिरिक्त अध्यात्म-ज्ञान की विधियों एवं उपासना-प्रक्रियाओं का विवरण इसके अन्तर्गत आता है।

३. तीसरे में कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, शिल्प, उद्योग, सेवा आदि समस्त जीवनोपायभूत अर्थ-प्राप्ति के साधन आजाते हैं।

४. चौथा विभाग—प्रशासन है, जिसमें प्रजापालन, आन्तर और बाह्य-आपातों से राष्ट्र की रक्षा, नियत व्यवस्थाओं, विधि-विधानों के अनुसार समाज का संचालन।

इन सभी विद्याओं में तत्त्वज्ञान और मोक्षप्राप्ति, प्रत्येक विद्याकी अपनी स्थिति के अनुसार समझनी चाहिये। वह यथाक्रम इसप्रकार है—

१. तत्त्वज्ञान—आत्मसाक्षात्कार; आत्मा और परमात्मा दोनों का साक्षात् ज्ञान। मोक्षप्राप्ति—त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक परमानन्द [परमात्म-रूप आनन्द] की प्राप्ति।

२. तत्त्वज्ञान—यज्ञादि कर्मों की प्रक्रियाओं एवं उनकीअनुष्ठानविधियों का यथार्थज्ञान। मोक्षप्राप्ति—अनुष्ठानों के अनन्तर उनके फल-स्वर्गादि एवं विशिष्ट सुखों की प्राप्ति।

३. तत्त्वज्ञान—वाणिज्य, उद्योग, कृषि, पशुपालन आदि का यथार्थ पूर्ण-ज्ञान। मोक्षप्राप्ति—वाणिज्य आदि से होनेवाला अर्थ-लाभ।

४. तत्त्वज्ञान—सन्धि, विग्रह आदि छह अंगों तथा साम, दाम आदि चार उपायों एवं अन्य प्रशासन-सम्बन्धी विधियों आदि का यथार्थ पूर्णज्ञान। मोक्षप्राप्ति—राज्य आदि का लाभ।

शास्त्रारम्भ में मंगलाचरण—आचार्य सूत्रकार द्वारा शास्त्र के आरम्भ में मंगलाचरण न कियेजाने के कारण कहाजाता है—मंगलाचरण करना प्रामाणिक कार्य नहीं है। यदि होता, तो सूत्रकार उसकी उपेक्षा न करता।

यहाँ समझना चाहिये, अतिप्राचीनकाल से भारतीय परम्परा में यह प्रथा रही है कि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में परमात्मा का नामस्मरण अवश्य होना चाहिये। भगवान् के स्मरण से कार्य के सफल होने की आशा कर्त्ता-व्यक्ति को सदा प्रोत्साहित रखती है, जो कार्य के सफल होने का मुख्य आधार समझना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि कर्त्ता द्वारा किये गये भगवन्नामस्मरण का उल्लेख ग्रन्थरचनारूप कार्य के प्रारम्भ में अवश्य कियाजाय। गौतम जैसे आर्ष वैदिक मुनि ने शास्त्रारम्भ करते समय भगवन्नामस्मरण न किया हो, ऐसा

सम्भव प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम सूत्र में 'प्रमाण' पद का निर्देश कर आचार्य ने इस विषय में अपनी आन्तरिक भावना का संकेत अवश्य देदिया प्रतीत होता है। 'प्रमाण' पद में परमात्मा-अर्थ के बोधन कराने का रहस्य अन्तर्निहित होने से यह प्रभु के नामस्मरण को सूचित करता है।[1] यही प्रस्तुत में मंगलाचरण का निर्देश समझना चाहिये ॥ १ ॥

प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति का उल्लेख किया। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या तत्त्वज्ञान के अनन्तर तत्काल मोक्ष होजाता है, अथवा उसका कोई अन्य प्रकार है? सूत्रकार ने समाधान किया—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

[दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्] दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के [उत्तरोत्तराऽपाये] उत्तर-उत्तर के, अगले-अगले के नष्ट होजाने

---

१. प्रस्तुत शास्त्र में प्रमाण पद का प्रायोगिक अर्थ है—प्रमा का करण, यथार्थ-ज्ञान का साधन। परन्तु इस पद में एक अन्य निगूढ भाव है, जो इसप्रकार समझना चाहिए—

वैदिक साहित्य में 'प्रमा' पद का प्रयोग 'इयत्ता-सीमा-नाप' आदि अर्थ में हुआ है। इससे प्रत्येक सीमित पदार्थ इस पद के बोध्य अर्थ की सीमा में आजाता है। इसप्रकार भूमि, अन्तरिक्ष तथा सभी द्युस्थित लोक-लोकान्तर 'प्रमा' हैं। यह समस्त विश्व जिस अचिन्त्य शक्ति के द्वारा प्राणित [प्रमा+अन] है, जीवित एवं स्थित है, तथा अव्यक्त दशा से उभरकर अपनी इस व्यक्त दशा में आपाता है, वह शक्ति 'प्रमाण' पद बोध्य है। इसके लिए द्रष्टव्य है, वैदिक साहित्य—ऋ० १०।१३०।३॥ अथर्व० १०।७।३२॥ माश० ८।३।३।५॥ मैं० १।११।१०॥ ३।२।६॥ काठ० १४।४॥ जै० २।४१॥

इसीके अनुसार अनन्तरवर्त्ती आचार्यों ने 'प्रमाण' पद का बोध्य अर्थ बताया है—जो समस्त जीवन एवं वस्तुमात्र का आधार है। वह तत्त्व परमात्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसी भावना से प्रेरित होकर मध्यकालिक कोषकारों ने करण [अष्टा० ३।३।११७], कर्त्ता [अष्टा० ३।३।११३] तथा भाव [३।३।११५] अर्थ में ल्युट् प्रत्यय मानकर 'प्रमाण' पद के निम्न अर्थ अभिव्यक्त किये हैं—"प्रमाणं नित्यमर्यादाशास्त्रेषु सत्यवादिनि। इयत्तायाञ्च हेतौ च क्लीबैकत्वे प्रमातरि" [मेदिनी कोष]।

पर [तदनन्तरापायात्] उसके अनन्तर-के-अव्यवहित पूर्व के नाश होजाने से [अपवर्गः] मोक्ष होता है।

सूत्र में समस्त-असमस्त (समासयुक्त व समासरहित) चार पद हैं, जो ऊपर चौकोर कोष्ठक में निबद्ध हैं। पहले समस्त पद में— दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान—ये पाँच पदार्थ कहे हैं। इनमें उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इसप्रकार दुःख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के कारण हैं दोष, और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। यह एक तर्कपूर्ण व्यवस्था है कि कारण के नाश होजाने पर कार्य का नाश होजाता है। फलतः मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश, और जन्म के नाश से दुःखों का नाश सम्भव है।

मोक्ष का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—सब प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छूट जाना [१।१।२२]। दुःखों की गहरी जड़ में बैठा है—मिथ्याज्ञान। जबतक इसे जड़ से उखाड़कर दूर फेंक नहीं दियाजाता, तबतक दुःख से छुटकारा नहीं। यह मिथ्याज्ञान आत्मा और उससे सम्बद्ध प्रमेयों में विविध प्रकार का होता है। आत्मा आदि के विषय में मिथ्याज्ञान का स्वरूप क्या है, यह निम्नप्रकार समझना चाहिये।

आत्मा के स्वतन्त्र चेतन अस्तित्व को स्वीकार न करना, शरीर आदि जड़ अनात्मा पदार्थ को आत्मा समझना। इसीप्रकार दुःख में सुख, सुख में दुःख, अनित्य में नित्य, नित्य में अनित्य की भावना मिथ्याज्ञान है। जो रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ है, उसको रक्षक समझलेना, जैसे शक्तिमान् की तथाकथित कल्पित प्रतीकरूप आकृति व प्रतिकृति में रक्षक की भावना होना मिथ्याज्ञान है। भयावह पदों में भयहीनता की भावना, तथा घृणित-निन्दित प्रसंगों को अभिनन्दनीय समझना भी मिथ्याज्ञान है। ऐसे ही त्याज्य को ग्राह्य और ग्राह्य को त्याज्य समझना मिथ्याज्ञान है। यह आत्मा एवं तत्सम्बन्धी भावों में मिथ्या-ज्ञान का स्वरूप बताया।

प्रवृत्ति आदि के विषय में मिथ्याज्ञान इसप्रकार समझना चाहिये। वाणी, मन और शरीर द्वारा कोई कार्य करना प्रवृत्ति है। यह पूर्वकृत कर्मों के सहयोग से हुआ करती है। इस विषय में ऐसी भावना कि कर्म कोई नहीं और न कर्मफल कुछ है, सब प्रवृत्ति आकस्मिक एवं नैसर्गिक होती रहती हैं, यह प्रवृत्ति-विषयक मिथ्याज्ञान है।

दोष-विषयक मिथ्याज्ञान है—आत्मा इस संसार में अपने दोष[1] आदि

---

१. **दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख क्या हैं? इसका विवरण सूत्रकार ने अभी आगे दिया है। इसके लिए देखें सूत्र—१।१।१७, १८, १९, २१॥**

कारणों से नहीं आता, न संसार दोषनिमित्तक है, यह अनादिकाल से ऐसा ही चला आरहा है, इत्यादि ।

चालू जीवन समाप्त होजाने पर फिर आत्मा का अन्य किसी देह से सम्बन्ध नहीं होता । न कोई ऐसा चेतन स्वतन्त्र आत्मा है, जिसका देह से वियोग होना मरण और सम्बन्ध होना जन्म बताया जाता है । यह प्रेत्यभाव अथवा जन्म-विषयक मिथ्याज्ञान है । ऐसा जन्म और मरण बिना कारण के होता रहता है । यहाँ सकारण जन्म-मरण के विषय में अकारणता का ज्ञान मिथ्याज्ञान है । प्रेत्यभाव का आदि तो है, पर इस क्रम का फिर कभी अन्त नहीं होता । ऐसे ज्ञान में मोक्ष का अभाव प्रतिपादित होजाना मिथ्याज्ञान है । यदि प्रेत्यभाव को नैमित्तिक मान लियाजाय, तो भी कर्मों को इसका निमित्त नहीं मानाजासकता; क्योंकि कार्य करने वाले तथाकथित चेतन नित्य आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं । यह जन्म-मरण, रज-वीर्य आदि दैहिक धातुवैषम्य के कारण होते रहते हैं । देह, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना इनके निरन्तर अनुक्रम का उच्छेद होजाना 'मरण' और क्रम का निर्बाध चलते रहना जन्म है ।[1] इस विचार में नित्य आत्मा का स्वीकार न कियाजाना मिथ्याज्ञान है ।

अपवर्ग-विषयक मिथ्याज्ञान है—यह अत्यन्त असह्य एवं भयावह है; इसमें सब प्रकार की प्रगतियों की समाप्ति होजाती है, प्रत्येक अभिलषित सांसारिक वस्तुओं से वियोग होजाता है; अनेक कल्याणपूर्ण स्थितियाँ नष्ट होजाती हैं, कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो सब सुखों के उच्छेदरूप इस निष्क्रिय अपवर्ग को चाहेगा ?

ऐसे मिथ्याज्ञान से अनुकूल परिस्थितियों में राग, और प्रतिकूल में द्वेष भड़क उठता है । इस राग-द्वेष के प्रभाव एवं प्राबल्य से व्यक्ति मिथ्याभाषण, दूसरों के प्रति डाह, दम्भ, छल-कपट, लोभ आदि अनेक दोषों में फँसजाता है । इन प्रबल दोषों से प्रेरित होकर अपने शरीर, वाणी और मन के द्वारा सम्पन्न होने वाले पाप-पुण्य अथवा शुभाशुभ प्रवृत्तियों में धकेल दियाजाता है ।

---

१. यह कथन बौद्धमतानुसार है । इस मत में पाँच स्कन्ध [विश्व के आधार-भूत] स्वीकार्य हैं । संज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना, संस्कार । देह [संज्ञा स्कन्ध, गौ-अश्व-मनुष्य आदि देहरूप में], इन्द्रिय [रूपस्कन्ध, सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः], बुद्धि [विज्ञान-स्कन्ध, आलयविज्ञान-प्रवृत्तिविज्ञान दोनों], वेदना [वेदनास्कन्ध, सुख-दुःख आदि का अनुभव], संस्कारस्कन्ध के लिए भाष्यकार वात्स्यायन ने यहाँ कोई अतिरिक्त पद नहीं पढ़ा; परन्तु यह स्कन्ध राग-द्वेष-मोह-धर्म-अधर्मरूप मानाजाता है, जो सुख-दुःख आदि का कारण है । यहाँ कार्य [वेदनास्कन्ध] को कारण का भी संग्राहक मानकर वेदनास्कन्ध से संस्कारस्कन्ध का भी ग्रहण होजाता है ।

जब प्रवृत्ति पाप व अशुभ कार्यों की ओर झुकी रहती है, तब व्यक्ति शरीर से हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन आदि का आचरण करता है। वाणी से— मिथ्याभाषण, कठोर वचन बोलता, चुगलखोरी, असम्बद्ध प्रलाप आदि करता है। मन से— दूसरों के प्रति द्रोह, दूसरे के धन को अन्याय से हड़पने की चाहना तथा नास्तिकता आदि का पोषक बनजाता है। यह पापरूप प्रवृत्ति अधर्म को बढ़ाती है।

जब प्रवृत्ति का झुकाव पुण्य की ओर होता है, तब प्रवृत्त हुआ व्यक्ति शरीर से—दान, दूसरों की रक्षा, परिचर्या-सेवा आदि किया करता है। वाणी से—सत्यभाषण, परकल्याण के प्रवचन, मधुर वार्त्तालाप एवं वेदादि सत्य सर्व-हितकारी शास्त्रों का स्वाध्याय आदि करने में तत्पर रहता है। मन से—सब प्राणियों के प्रति दयाभाव, अस्पृहा और अभिवन्दनीय में श्रद्धाभाव रखने लगता है। यह शुभ प्रवृत्ति है, जो धर्म का विस्तार करती है। यह उभय प्रकार की प्रवृत्ति अच्छे-बुरे जन्म का कारण है।[1]

देह, इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि का संहतरूप से विशिष्ट आकृतियों में प्रादुर्भाव होना— जन्म —है; अर्थात् आत्मा का देहादि के साथ सम्बन्ध होजाना। आत्मा को दुःख आदि का अनुभव देहादि-सम्बन्ध में सम्भव है, अतः जन्म को दुःख का कारण कहा गया। प्रतिकूल अनुभवों से जनित स्थिति का नाम दुःख है, जिसको बाधा, पीड़ा, ताप आदि नामों से व्यवहृत कियाजाता है।

मिथ्याज्ञान से लगाकर दुःखपर्यन्त परिस्थितियों के निरन्तर चलते रहने का नाम संसार है। जब तत्त्वज्ञान होजाने पर मिथ्याज्ञान का नाश होजाता है, तब मिथ्याज्ञान से होनेवाले दोष स्वतः विलीन होजाते हैं। जब कारण-मिथ्याज्ञान न रहा, तो कार्य कैसे रहजायगा ? दोषों के न रहने से प्रवृत्ति का अभाव होजाता है, प्रवृत्ति के अभाव में पुनः जन्म का अवसर नहीं रहता। जन्म न होने पर दुःख रहने का प्रश्न नहीं उठता। दुःख की इस अत्यन्त निवृत्ति का नाम अपवर्ग, या निःश्रेयस है।

आत्मा आदि प्रमेयों के विषय में तत्त्वज्ञान का स्वरूप क्या है ? इसको आत्मादिविषयक मिथ्याज्ञान के विपर्यय से समझलेना चाहिये। जैसे आत्मा के विषय में—आत्मा नित्य चेतन तत्त्व है, यह—तत्त्वज्ञान है। इसीप्रकार अनात्मा में अनात्मा, दुःख में दुःख, अनित्य में अनित्य, अरक्षक में अरक्षक, भयावह में भयावह, निन्दित में निन्दित, त्याज्य में त्याज्य बुद्धि का होना-तत्त्वज्ञान है। तात्पर्य है—जो जैसा पदार्थ है, उसको अपने वास्तविक स्वरूप में जानना-समझना 'तत्त्वज्ञान' कहाजाता है।

---

१. शुभ-अशुभ जन्म के विषय में द्रष्टव्य, मनु० १२। ४०—८५॥ गीता, अध्याय १६।

यद्यपि संसार में सुख की कमी नहीं, परन्तु वह सुख-दुःखों के भारी भार से दबा रहता है, सन्तापों के गाढ़े घोल में लिपटा हुआ वह ऐसा है, जैसा स्वादु भोजन में विष घुला हो। उसे सर्वथा पृथक् कर निर्दोषरूप में भोगाजाना सम्भव नहीं। जीवन की रक्षा के लिए जिस प्रकार सविष स्वादु भोजन त्याज्य है; इसीप्रकार अध्यात्म कल्याण की प्राप्ति की भावना से—वह वैषयिक क्षणिक सुख त्याज्यकोटि में रक्खाजाता है, जो विविध प्रकार के कष्ट-क्लेश व दुःखों से संपृक्त है।

वैषयिक सुखोपभोग के लिए मुख्यरूप से दो वस्तु अपेक्षित हैं—स्वास्थ्य और अर्थ। संसार के समस्त सुख-भोग की गाड़ी इन्हीं दो पहियों पर चलती है। इनमें से किसी एक के भी न होने पर गाड़ी गड़बड़ा जाती है। उस दशा में भी प्राणी सुख-भोग के लिए हाथ-पैर मारता है, और जो कुछ मिलता है, उसीमें सन्तुष्ट रहना पड़ता है। वस्तुतः वह केवल सुख-भोग की रीस है।

पहला साधन 'स्वास्थ्य' है, जो पितृ-परम्परा और अपने क्रिया-कलापों से प्राप्त होता है। इसकी सुरक्षा के लिए दृढ़ता से ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करना आवश्यक है। यह स्थिति—अध्यात्ममार्ग और उपयुक्त सांसारिक सुख-भोग—दोनों के लिए अनुकूल है। जो तलवार की इस नंगी धार पर चल सके, वे पार हो गये। यह स्वास्थ्य अनायास प्राप्त नहीं होजाता; इसको प्राप्त करने व सुरक्षित रखने के लिए—आन्तर व बाह्य—दोनों प्रकार के तप व श्रम आदि की अपेक्षा रहती है, जिसे स्वभाव-सुलभ आलसी जीवन पूरा नहीं करपाता; और उस दुर्लभ रत्न की प्राप्ति से वञ्चित रहता है।

दूसरा साधन 'अर्थ' स्वयं अनेकरूप में क्लेशमूल है। यहाँ भी—पितृ-परम्परा और अपना श्रम—दोनों कार्य करते हैं। आज सारा संसार—और साधारणरूप से सदा ही—समस्त शक्ति का उपयोग अर्थ के संग्रह में करता है। अनुभवियों ने बताया है—अर्थों के अर्जन में दुःख और रक्षण में दुःख, अर्थ का आय और व्यय दोनों दुःख के जनक हैं।[1] अर्थ के सभी दास हैं, चाकर हैं; अर्थ किसीका दास नहीं। अर्थ उसीका दास है, जो इसकी उपेक्षा करता है।[2] अर्थ जिसको अपनी

१. अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥ [कस्यचित्कवेः]

२. अर्थस्य सर्वो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
तस्यार्थस्तु सदा दासो य एनं समुपेक्षते॥
[तुलना करें—महाभारत, ६। ४३। ४१,५६,७१,८२]

और आकृष्ट न करसकें, उसीको ज्ञानवान् समझना चाहिये।[1] फलतः अतिकष्टसाध्य क्षणिक वैषयिक सुख को हेय समझ, शाश्वत कल्याणप्राप्ति की भावना से आत्मादि के साक्षात् तत्त्वज्ञान के लिए प्रयत्नशील होना मानवजीवन का उद्देश्य है; उसीकी पूर्ति के लिए इस शास्त्र का प्रारम्भ कियागया है ॥ २ ॥

पदार्थ का उपपादन तीन स्तरों में शास्त्र करता है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। केवल नाम लेकर पदार्थ का निर्देश कर देना 'उद्देश' है। उद्दिष्ट पदार्थ को अन्य पदार्थों से पृथक् व भिन्न रूप में स्पष्ट करदेनेवाला धर्म 'लक्षण' कहाजाता है। उद्दिष्ट पदार्थ का जो लक्षण कियागया है, वह उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करता है या नहीं ? इसका प्रमाणों के द्वारा निश्चय करना 'परीक्षा' है।

शास्त्र में प्रथम उद्दिष्ट पदार्थ का पहले विभाग बताकर पुनः उनका लक्षण किया है, जैसे—प्रमाण और प्रमेय का। प्रथम सूत्र में इनका नाममात्र लेकर उद्देश है। फिर तीसरे सूत्र में प्रमाण के तथा नौवें सूत्र में प्रमेय के विभाग बताये। चौथे से सातवें सूत्र तक विभक्त प्रमाणों के लक्षण बताये हैं। इसीप्रकार दसवें सूत्र से बाईसवें सूत्र तक विभक्त प्रमेय के लक्षण दिये हैं। कहीं ऐसा है कि उद्दिष्ट पदार्थ का पहले लक्षण करदिया है, फिर उसके विभाग बताये हैं, जैसे—छल के प्रसंग में।[2] अब सबसे प्रथम उद्दिष्ट 'प्रमाण' पदार्थ के विभाग का कथन सूत्रकार करता है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

[प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द [प्रमाणानि] प्रमाण हैं।

सूत्र में पहला पद समासयुक्त और दूसरा असमस्त है। यहाँ 'चकार' अर्थ में सर्वपदार्थप्रधान इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। उद्देश्य-विधेय पदों का लिङ्ग और वचन यद्यपि समान होना चाहिये, पर 'प्रमाण' पद के नियत नपुंसकलिङ्ग होने से—उद्देश्य पद पुंल्लिङ्ग होने पर भी—विधेय पद नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त है।

सूत्र में संख्यावाचक पद न होने पर भी गणना द्वारा प्रमाणों की चार नियत संख्या मानाजाना शास्त्र में निर्धारित है। कोई पदार्थ जिस साधन द्वारा जानाजाता या निश्चय कियाजाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। यह पद 'प्र'

---

१. आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥
[महाभारत, ५। ३३। १५-१६ के मध्य; गो० पु० सं०]

२. देखें सूत्र, १। २। १० तथा ११ ॥

उपसर्गपूर्वक 'माङ्[1] (मा)' धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्।' ज्ञान का जो करण-साधन है, वह प्रमाण है। 'प्रमाण' पद का यह अर्थ उसके निर्वचन द्वारा अभिव्यक्त होजाता है।

प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द। सब प्रमाणों में प्रधान होने से प्रत्यक्ष का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। अन्य प्रमाणों द्वारा पदार्थ के जान-लेने पर भी उस विषय की कुछ जिज्ञासा बनी रहती है; परन्तु प्रत्यक्ष से जानलेने पर वह समाप्त होजाती है, यही प्रत्यक्ष की प्रधानता का स्वरूप है। अनुमान के प्रत्यक्ष-पूर्वक होने से प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान का पाठ है। इसका विषय-क्षेत्र त्रैकालिक होने से यह अन्य प्रमाणों से पहले पढ़ागया है। अनुमान के समान होने, तथा विषय के प्रत्यक्ष होने पर इस प्रमाण की प्रवृत्ति का अवसर आने से अनुमान के अनन्तर 'उपमान' पढ़ा है। 'शब्द' प्रमाणकी प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष व अनुमान यथाप्रसंग अपेक्षित रहते हैं, अतः अन्त में 'शब्द' का उल्लेख है। शब्द का विषय प्रायः अतीन्द्रिय रहता है; यह भी कारण अन्त में पढ़ेजाने का सम्भव है।

जिज्ञासा—क्या किसी विषय को जानने के लिए चारों प्रमाण सम्मिलितरूप से अपेक्षित होते हैं? अथवा एक प्रमाण द्वारा प्रत्येक प्रमेय को जा लेना अपेक्षित रहता है? तात्पर्य है, किसी प्रमेय में चारों प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, अथवा एक की?

समाधान—प्रमेय में प्रमाण की प्रवृत्ति के दोनों प्रकार देखेजाते हैं। कहीं एक प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, तथा किसी विषय में एक प्रमाण का प्रवृत्त होना सम्भव रहता है। जैसे—'आत्मा है' यह शब्द प्रमाण से जानाजाता है। आत्मा के ज्ञान, सुख, दुःख, प्रयत्न आदि गुण-लिङ्गों से उसका अनुमान होता है। यदि योगाभ्यास द्वारा समाधि-अवस्था को प्राप्त करलियाजाय, तो उस अवस्था में आत्मा और मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ एक प्रमेय में तीनों प्रमाणों की प्रवृत्ति स्पष्ट है। इसीप्रकार तिरोहित अप्रत्यक्ष अग्नि का किसी आप्त के निर्देश से शब्दप्रमाण द्वारा बोध होजाता है। जब व्यक्ति उस ओर जाने लगता है, और कुछ समीप पहुँचजाता है, तब अग्नि के तिरोहित रहने पर भी उसमें से उठता हुआ धुआँ दिखाई देने लगता है। तब धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होजाता है। उसीके अनुसार अग्नि

---

१. यह जुहोत्यादिगणी धातु 'मान' और 'शब्द' अर्थ में पठित है। 'मान' का अर्थ है मापना, नापना, निश्चय व निर्धारण करना। इस धातु से कर्त्ता [३।३।११३], भाव [३।३।११५], और करण [३।३।११७] अर्थों में 'ल्युट्' प्रत्यय होता है। यहाँ अन्तिम अर्थ अभिप्रेत है।

के समीप जाकर उसका प्रत्यक्ष होजाता है। यह प्रमाणों का 'अभिसंप्लव' है, एक प्रमेय को जानने में एकाधिक प्रमाणों का प्रवृत्त होना।

अनेक स्थल ऐसे रहते हैं, जहाँ केवल एक प्रमाण की प्राप्ति देखीजाती है। जैसे कहागया—'अग्निहोत्रंजुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्गकी कामना करनेवाला व्यक्ति अग्निहोत्र(होम) करे। स्वर्ग को आज तक किसीने देखा नहीं; वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष न होने से उसका अनुमान सम्भव नहीं; क्योंकि अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान अर्थात् हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध का साक्षात् ज्ञान होना आवश्यक है; वह स्वर्ग के विषय में सम्भव नहीं। फलतः किसी ऐसे स्वर्ग का अस्तित्व केवल शब्दप्रमाण से जानाजाता है।

हम बन्द कमरे में बैठे हैं, हमारे कान में एक विशेष गर्जन-ध्वनि अचानक सुनाई देती है। उस ध्वनिविशेष से बाहर बादलों के होने का अनुमान होजाता है। कुछ काल के अनन्तर जब हम कमरे से बाहर आते हैं, तो आसमान साफ दिखाई देता है, बादल का कहीं टुकड़ा नहीं। यहाँ बादल का ज्ञान केवल अनुमानप्रमाण से हुआ है; अन्य किसी प्रमाण का अवकाश नहीं।

इसीप्रकार जब हमारी हथेली पर एक फल अथवा कोई अन्य दृश्य पदार्थ रखा रहता है, उस समय स्पष्ट हम उसका केवल प्रत्यक्ष करते हैं; न वहाँ अनुमान प्रवृत्त है न शब्द। ऐसे स्थलों में केवल एक प्रमाण की प्रवृत्ति देखीजाती है। इसप्रकार ये प्रमाण अकेले या मिलकर अर्थज्ञान के साधन होते हैं ॥ ३ ॥

गत सूत्र से प्रमाण को चार भागों में विभक्त बताया गया। विभाग के अनुसार प्रमाणों के लक्षण बताने की भावना से सर्वप्रथम कथित प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

[इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्] इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष-सम्बन्ध से उत्पन्न, ऐसा [ज्ञानम्] ज्ञान, जो [अव्यपदेश्यम्] व्यपदेश्य न हो, [अव्यभिचारि] व्यभिचारी न हो, [व्यवसायात्मकम्] निश्चयात्मक हो, वह [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष कहाजाता है।

सूत्र में छह पद हैं, जो चौकोर कोष्ठक में बद्ध हैं।[1] यहाँ 'ज्ञानम्' उद्देश्य और 'प्रत्यक्षम्' विधेय पद है। सूत्र का पहला पद ज्ञान के स्वरूप को प्रस्तुत करता है, और अगले तीन पद 'ज्ञान' की किन्हीं विशेषताओं का निर्देश करते

१. आगे व्याख्या में सूत्र-पदों की संख्या का निर्देश नहीं कियाजायगा। इस [ ] कोष्ठक में बद्ध पदों के अनुसार उनकी संख्या समझलेनी चाहिये।

है। सूत्रार्थ होगा—वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होता है; परन्तु वह 'अव्यपदेश्य' 'अव्यभिचारि' और 'व्यवसायात्मक' होना चाहिए।

सन्निकर्ष छह—इन्द्रिय पाँच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, जिनका घट आदि द्रव्य और द्रव्यादि में समवेत रूप, रसादि एवं द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि धर्मों के साथ सन्निकर्ष होकर उस-उस विषय का प्रत्यक्ष होता है। सन्निकर्ष छह प्रकार का है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणता अथवा विशेष्यविशेषणभाव। किस अर्थ के प्रत्यक्ष में कौन-सा सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, यह इसप्रकार समझना चाहिये—

संयोग=द्रव्य के प्रत्यक्ष में,

संयुक्तसमवाय=गुण, कर्म और द्रव्यगत जाति के प्रत्यक्ष में।

संयुक्तसमवेतसमवाय=गुणसमवेत तथा कर्मसमवेत जाति के प्रत्यक्ष में।

समवाय=शब्द के प्रत्यक्ष में।

समवेतसमवाय=शब्दगत जाति के प्रत्यक्ष में।

विशेषणता=अभाव के प्रत्यक्ष में।

द्रव्यग्राहक इन्द्रिय केवल चक्षु है। कतिपय आचार्य त्वक्-इन्द्रिय को भी द्रव्यग्राहक मानते हैं। दो द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध, 'संयोग' होता है। चक्षु-इन्द्रिय द्रव्य है, और घट भी द्रव्य है; चक्षु का घट से सम्बन्ध, संयोग सन्निकर्ष है, यह सन्निकर्ष होने पर चक्षु द्वारा घट का ज्ञान होजाता है।

चक्षु 'रूप'-गुण का ग्रहण कराता है। चक्षु का संयोग घट-द्रव्य के साथ है, घट में रूप समवाय-सम्बन्ध से रहता है, इसप्रकार चक्षु का रूप के साथ सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवाय' हुआ। यह सन्निकर्ष होने पर चक्षु से रूप का ग्रहण होता है।

यह एक नियम है—जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से उस पदार्थ में रहनेवाली जाति और उस पदार्थ के अभाव का ग्रहण होता है।[1] इस व्यवस्था के अनुसार घट मे रहनेवाली 'घटत्व' जाति और रूप में रहनेवाली 'रूपत्व' जाति का चक्षु से ग्रहण होगा। चक्षु का घट के साथ 'संयोग-सन्निकर्ष' है, और घट में 'घटत्व' जाति का समवाय है; इसप्रकार चक्षु का घटत्व से संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होगा, यह सन्निकर्ष होने पर चक्षु से घटत्व जाति का ग्रहण अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान होजाता है। उसी व्यवस्था के अनुसार चक्षु का घट से संयोग, घट में रूप का समवाय, और रूप में 'रूपत्व' जाति का समवाय होने से चक्षु का रूपत्व के साथ 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा। इस सन्निकर्ष के होने पर चक्षु से 'रूपत्व' जाति का ग्रहण अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान होजाता है।

---

१. **येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तद्गता जातिस्तदभावश्च गृह्यते।**

इसीप्रकार त्वक् इन्द्रिय से घटादि विषय का ग्रहण करने के लिए सन्निकर्ष समझलेना चाहिये। जो आचार्य त्वक्-इन्द्रिय को द्रव्यग्राहक नहीं मानते, उनके विचार से त्वक् द्रव्य का ग्रहण न कर द्रव्यगत गुण आदि का ग्रहण करता है। एक अन्धा व्यक्ति—जिसे पहले घट का ज्ञान है, तथा समाखा व्यक्ति भी घोर अंधेरे में घट को छूकर और टटोलकर जान लेता है—यह घट है। यहाँ केवल स्पर्श व आकार-परिमाण आदि गुणों का त्वक्-इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। गुणों के द्वारा वह व्यक्ति घट-द्रव्य का अनुमान से ज्ञान करता है।

घ्राण, रसन और श्रोत्र-इन्द्रिय द्रव्यग्राहक न होकर केवल गुणग्राहक है। घ्राण से गन्ध का ग्रहण होता है। जिस द्रव्य में गन्ध का ग्रहण होरहा है, उस द्रव्य के साथ घ्राण-इन्द्रिय का संयोग है, और उस द्रव्य में गन्ध-गुण का समवाय; इसप्रकार घ्राण से गन्ध का ग्रहण होने में 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष होगा। गन्ध में समवेत 'गन्धत्व' जाति के ग्रहण करने में पूर्ववत् 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा। इसीके अनुसार रसन-इन्द्रिय का —रस-गुण और रसत्व जाति के ग्रहण करने में—सन्निकर्ष समझलेना चाहिये।

घ्राण आदि इन्द्रियाँ जैसे पृथिवी आदि तत्त्वों से उत्पन्न और अपने रूप में एक पृथक् इकाई मानी जाती हैं, वैसे श्रोत्र के विषय में नहीं मानाजाता। श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होकर आकाश ही स्वरूपतः श्रोत्र-इन्द्रिय है। देह के एक उभरे हुए अङ्ग कान के अन्दर एक विशिष्ट अङ्ग से सम्बद्ध आकाशदेश श्रोत्र-इन्द्रिय[1] मानलियागया है। श्रोत्र-इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, और शब्द आकाश में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। इसलिए श्रोत्र से शब्द का ग्रहण करने में 'समवाय' सन्निकर्ष होगा। शब्दगत 'शब्दत्व' जाति के ग्रहण में 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा।

अभाव के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष को समझने के लिए यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस वस्तु का अभाव ग्रहण करना है, उस अभाव का अधिकरण क्या है? अर्थात् किसीका अभाव कहाँ ग्रहण करना है? उस अधिकरण के साथ ग्राहक इन्द्रिय का सन्निकर्ष पहले समझलेना चाहिये। जो सन्निकर्ष बने, उसके आगे 'विशेषणता' पद जोड़देने से उस अभाव के प्रत्यक्ष का सन्निकर्ष स्पष्ट होजाता है।

जैसे—भूतल में घट का अभाव प्रत्यक्ष करना है। घट का ग्रहण चक्षु-इन्द्रिय से होता है; घट के अभाव का ग्रहण भी चक्षु से होगा। देखना चाहिये, घटाभाव का अधिकरण क्या है? स्पष्ट है, वह अधिकरण भूतल है। भूतल द्रव्य है, भूतल के साथ चक्षु-इन्द्रिय द्रव्य का 'संयोग' सन्निकर्ष होगा। इसके

---

१. **कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभःप्रदेश एव श्रोत्रम्। यह प्रमाणभूत आचार्यों ने बताया है।**

आगे 'विशेषणता' पद जोड़ने से—चक्षु द्वारा भूतल में घटाभाव का ग्रहण करने के लिए 'संयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष होगा। चक्षुःसंयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है—'घटाभाववद् भूतलम्' यह प्रत्यक्ष प्रतीति का स्वरूप है।

अब अन्यत्र देखिये। रूप में गन्ध का अभाव ग्रहण करना है। गन्ध का ग्रहण भी घ्राण से होता है, तो उसके अभाव का ग्रहण भी घ्राण से होगा। इस गन्धाभाव का अधिकरण यहाँ रूप है। रूप गुण है, वह किसी द्रव्य में समवेत होगा। अभाव का ग्राहक इन्द्रिय घ्राण भी द्रव्य है। तब घ्राण का उस द्रव्य से संयोग, और उस द्रव्य में रूप का समवाय है। इसप्रकार गन्धाभाव के अधिकरण रूप के साथ घ्राण-इन्द्रिय का 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष हुआ। इसके आगे 'विशेषणता' जोड़ देने से—रूप में गन्धाभाव का ग्रहण—'संयुक्तसमवेत-विशेषणता' सन्निकर्ष से होगा। घ्राण-इन्द्रिय से संयुक्त रूपवद्द्रव्य, उस द्रव्य में समवेत रूप, वहाँ विशेषण है गन्धाभाव—'रूपं गन्धाभाववत्' यह प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।

इसीप्रकार 'रूपत्व' अधिकरण में गन्धाभाव के ग्रहण के लिए घ्राण-इन्द्रिय का रूपत्व के साथ सन्निकर्ष देखना होगा। पूर्ववत् वह सन्निकर्ष है—'संयुक्तसमवेतसमवाय।' घ्राण संयुक्त रूपवद्द्रव्य, द्रव्य में समवेत रूप, रूप में समवेत रूपत्व। इसप्रकार घ्राण का रूपत्व के साथ सन्निकर्ष हुआ—'संयुक्तसमवेत-समवाय'। उसके आगे 'विशेषणता' जोड़ने से घ्राण-इन्द्रिय द्वारा 'रूपत्व' अधिकरण में गन्धाभाव का ग्रहण 'संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता' सन्निकर्ष से होगा—'रूपत्वं गन्धाभाववत्'।

प्रत्यक्ष पद का अर्थ तथा प्रत्यक्ष का फल—इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष उक्त छह विधाओं में होता है। इसप्रकार के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। उक्त भाव 'प्रत्यक्ष' पद के निर्वचन में निहित है—'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्।' 'अक्ष' पद इन्द्रिय का वाचक है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने ग्राह्य विषय के प्रति वृत्ति-व्यापार प्रत्यक्ष है। उस वृत्ति अर्थात् व्यापार का स्वरूप क्या है?—सन्निकर्ष अथवा ज्ञान। इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होना—इन्द्रिय का अपने विषय के प्रति व्यापार है, इसीका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है, तब उसका फल है—उस अर्थ-वस्तु के ज्ञान-प्रमा का होना। 'प्रमाण' पद का तात्पर्य है—प्रमा का साधन। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अनन्तर ज्ञान होता है, अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर उसके अनन्तर होनेवाला ज्ञान उसका फल है।

परन्तु जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न 'ज्ञान' को प्रत्यक्षप्रमाण मानाजाता है, तो निश्चित ही उसका फल अन्य कोई 'प्रमा' होना चाहिये। इस दशा में उसका फल होगा—ज्ञात वस्तु के विषय में उसके हान, उपादान अथवा उपेक्षा

का ज्ञान। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न वस्तु-ज्ञान जब 'प्रत्यक्षप्रमाण' है, तब उस वस्तु के विषय में यह ज्ञान होना उस प्रमाण का फल है कि यह वस्तु त्याज्य है, अथवा उपादेय है, अथवा उपेक्षा करने योग्य है।

प्रत्यक्षप्रमाण के विषय में इस विकल्प का संकेत पाकर परवर्ती आचार्यों ने 'इन्द्रिय' को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। वस्तुतः इन्द्रिय पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण है। अर्थ के साथ उसका सन्निकर्ष मध्यवर्ती व्यापारमात्र है। तात्पर्य हुआ—इन्द्रिय-अर्थ के साथ सन्निकर्ष द्वारा—वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण होता है; अतः इन्द्रिय प्रत्यक्षप्रमाण और वस्तु-ज्ञान उसका फल है।[1] अनन्तर स्थिति के अनुसार वस्तु के हान आदि का ज्ञान उत्पन्न होता है।

---

१. **साक्षात् इन्द्रिय को प्रत्यक्षप्रमाण माननेवाले आचार्यों का कहना है, प्रमाण वही है, जो प्रमा का करण हो। करण का स्वरूप है—व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्। व्यापारवाला होता हुआ जो कार्य का असाधारण कारण होता है, वही 'करण' कहाजाता है। व्यापार है—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः। अर्थात् इन्द्रिय से जन्य होने पर जो इन्द्रियजन्य ज्ञान का जनक हो वह व्यापार कहाजाता है। तात्पर्य है—इन्द्रिय साधन और ज्ञान साध्य के मध्य की स्थिति, जो साधन से उत्पन्न कीजाकर मुख्य साध्य-ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक होती है। प्रस्तुत प्रसंग में वह मध्य की स्थिति 'सन्निकर्ष' है। इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है, तथा इन्द्रियजन्य वस्तुज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है; क्योंकि जब तक सन्निकर्ष न होगा, वस्तुज्ञान का होना सम्भव नहीं। तात्पर्य हुआ—इन्द्रिय, अर्थ के साथ सन्निकर्ष द्वारा अर्थज्ञान को उत्पन्न करता है। फलतः इन्द्रिय 'प्रमाण' और उससे हुआ वस्तुज्ञान उसका फल है।**

यह व्यवस्था—सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने में भी समान है। क्योंकि इन्द्रिय रहने पर भी यदि सन्निकर्ष न होगा, तो वस्तुज्ञान असम्भव है। इसलिए 'प्रत्यक्षप्रमाण' होने में सन्निकर्ष को प्रधानता मिलनी चाहिये। वह वस्तु-ज्ञान द्वारा हान आदि बुद्धि को उत्पन्न करता है। इसप्रकार सन्निकर्ष प्रत्यक्षप्रमाण, वस्तु-ज्ञान व्यापार और हान आदि का ज्ञान फल है। वस्तुस्थिति यह है कि इसे कैसे भी समझाजाय, इससे प्रत्यक्षप्रमाण का स्वरूप स्पष्ट करना अभिप्रेत है। यह केवल वस्तुतत्त्व के उपपादन का प्रकारमात्र है। ज्ञान के प्रति साधनता इन्द्रिय और सन्निकर्ष दोनों में निहित है।

प्रत्यक्ष में मन की कारणता

यद्यपि सूत्र में केवल इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख है, पर इससे यह न समझना चाहिये कि प्रत्यक्षज्ञान के होने में इतना ही कारण है। क्योंकि ज्ञान आत्मा को होता है, तथा एक क्षण में एक ही ज्ञान होने के कारण उस ज्ञान में एक और आन्तर साधन मन है। इसप्रकार प्रत्येक बाह्य वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान तभी होता है, जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष हो। क्योंकि आत्मा का मन से और मन का इन्द्रिय से सन्निकर्ष अनुमिति आदि प्रत्येक ज्ञान में हुआ करता है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं साधनों का निर्देश है, जो केवल प्रत्यक्षज्ञान में अपेक्षित हैं। इससे अनुमिति आदि ज्ञान के समानसाधनों का यहाँ निवारण नहीं होता।

प्रत्यक्ष के तीन विशेषण—प्रत्यक्षज्ञान के स्वरूप को स्पष्टरूप में समझने की भावना से सूत्र में तीन विशेषण पद दिये हैं। उनमें प्रथम है—'अव्यपदेश्यम्।' 'व्यपदेश' पद का अर्थ है—कथन करना, शब्द द्वारा किसी अर्थ का बोध कराना। जिस अर्थ का बोध कराना अभिप्रेत है, वह अर्थ 'व्यपदेश्य' कहाजायगा। आचार्य सूत्रकार का अभिप्राय है कि यहाँ वह प्रत्यक्षज्ञान अभीष्ट है, जो 'अव्यपदेश्य' हो, अर्थात् शब्द द्वारा जिसका बोध न कराया जासके।

अव्यपदेश्य-विशेषण—उदाहरण के रूप में समझिये, एक व्यक्ति पेड़ा, बर्फी या रसगुल्ला खाता है। खाने पर जिसका वह अनुभव करता है, उसके लिए साधारण शब्द है—रस, और विशेष है—मधुर रस। प्रत्येक पेड़ा आदि उपभुक्त वस्तु में मधुररस का अनुभव होता है; परन्तु प्रत्येक वस्तु के माधुर्य में परस्पर अन्तर रहता है। भोक्ता व्यक्ति उस अनुभूति के लिए जिन पदों—रस अथवा मधुररस—का प्रयोग करता है, उससे अन्य किसी श्रोता व्यक्ति को उस माधुर्य का बोध अर्थात् अनुभूति नहीं करासकता, और न वह उस माधुर्य के परस्पर अन्तर का बोध करासकता है। रस, मधुर रस, अथवा विभिन्न रस आदि पदों से जो बोध श्रोता को होता है, वह केवल शाब्दिक है—शब्दप्रमाणजन्य। मधुर पदार्थ और रसन-इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान या अनुभव भोक्ता को होता है, वह उन शब्दों द्वारा श्रोता को होना सम्भव नहीं, जो शब्द भोक्ता—अपने अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए—बोलता है। इसीकारण भोक्ता का वह प्रत्यक्ष ज्ञान 'अव्यपदेश्य' है; शब्द द्वारा अबोध्य। यदि वह शब्द द्वारा बोध्य हुआ करता, तो 'मधुर' शब्द द्वारा माधुर्यरस की अनुभूति होजाया करती। फलतः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान भोक्ता-प्रमाता को होता है, वह शब्दनिरपेक्ष है, अतः अव्यपदेश्य है। जो व्यपदेश्य है, वह शाब्दज्ञान है, प्रत्यक्षज्ञान नहीं।

इस मान्यता में यह परिस्थिति सुपुष्ट प्रमाण है—यदि किसी वस्तु के वाचक शब्दों को न जाननेवाले और जाननेवाले दोनों व्यक्तियों को मधुर आदि पदार्थ का उपभोग करायाजाय, तो उस रस की अनुभूति में कोई अन्तर न होगा। एक व्यक्ति—जब किसी वस्तु के वाचक शब्द को नहीं जानता, उस अवस्था में वस्तु के उपभोग से जिस रस का अनुभव करता है, वैसा ही अनुभव उसे तब होता है, जब वह उसके वाचक शब्द को जान लेता है। इससे स्पष्ट है, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य वस्तु-ज्ञान में शब्द की अपेक्षा नहीं होती, इसीलिए वह ज्ञान शब्द द्वारा बोध्य नहीं। उस अर्थज्ञान के अवसर पर वाचक शब्द का कोई उपयोग नहीं होता। केवल बाह्य व्यवहार के लिए वाचक शब्द का प्रयोग कियाजाता है। लोकव्यवहार के लिए शब्द और अर्थ के वाचक-वाच्य सम्बन्ध को जानना आवश्यक है। यहाँ रहस्य यह है, कि उस अनुभूत्यात्मक अर्थज्ञान का—जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है—कोई ऐसा वाचक शब्द नहीं है, जिससे उसका तद्रूप बोध कराया जा सके। परन्तु किसी न किसी रूप में बोध कराये विना लोकव्यवहार चल नहीं सकता। अतः उस अर्थ के लिए जो संज्ञाशब्द अथवा वाचक शब्द नियत है—रस या रूप; इन्हीं शब्दों के आगे 'इति' पद का प्रयोग करके उस ज्ञान को अभिव्यक्त कियाजाता है—'रस इति जानीते, रूपमिति जानीते।' अथवा—'रस इति ज्ञानम्, रूपमिति ज्ञानम्।' 'रस का ज्ञान है' अथवा 'रूप का ज्ञान है'। इसप्रकार अर्थवाचक रस-रूप आदि पदों के सान्निध्य से उस ज्ञान का अभिव्यञ्जन—लोकव्यवहारनिमित्त—करायाजाता है। फलतः इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न वह अर्थज्ञान अशाब्द—अव्यपदेश्य है।

अव्यभिचारी विशेषण—उस प्रत्यक्षज्ञान का दूसरा विशेषण है—'अव्यभिचारि'। अन्य पदार्थ में अन्य का ज्ञान होजाना व्यभिचारि-ज्ञान कहाजाता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान, वही प्रत्यक्षज्ञान मानाजायगा, जो व्यभिचारि न हो। सायंकाल झुटपुटा होने पर मार्ग में पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर पथिक भय के वातावरण में साँप समझलेता है। यह ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से अवश्य होता है; पर उपयुक्त प्रकाश के न होने और भय की भावना के उभरने से रस्सी में साँप का ज्ञान व्यभिचारि है। ऐसा ज्ञान उपयुक्त प्रकाश में भय की आशंका न रहने से नष्ट होजाता है। तब वहाँ 'यह रस्सी है' ऐसा अव्यभिचारि ज्ञान प्रत्यक्ष मानाजाता है।

इसीप्रकार गरम मौसम में जब नंगी मरुभूमि पर सूर्य की तीव्र किरण पड़ती हैं, और भूमि से ऊष्मा उभर रहा होता है, तब ऊष्मा और गतिशील किरण मिलकर दूरस्थित पुरुष को ऐसी दिखाई देती हैं, जैसे जल लहरें लेता बहरहा हो। यहाँ भू-ऊष्मा और किरणों के आपस में मिलने की परिस्थिति को

दूर से जल समझना व्यभिचारि-ज्ञान है। उस स्थान के समीप जाने पर जल-ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि वहाँ उस रूप में जल का सर्वथा अभाव है। केवल रेत, हवा और गरमी का अनुभव होता है। जहाँ जिसका अभाव है, वहाँ उसका दीखना व्यभिचारि-ज्ञान है। यद्यपि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य है, पर व्यभिचारि होने से प्रत्यक्ष नहीं मानाजाता।

यदि सूत्र में उक्त ज्ञान का विशेषण 'अव्यभिचारि' न रक्खाजाता, तो व्यभिचारि-ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानाजाता; तब यथार्थ में उस वस्तु के वहाँ न मिलने पर प्रत्यक्ष प्रमाण का अस्तित्व खतरे में पड़जाता। प्रमाणों में प्रत्यक्ष को महत्त्व इसी आधार पर दियाजाता है कि प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु का ज्ञान होजाने पर उसमें आगे किसीप्रकार के सन्देह या न्यूनता का अवकाश नहीं रहता, जो व्यभिचारिज्ञान में सम्भव नहीं।

व्यवसायात्मक विशेषण—प्रत्यक्ष का तीसरा विशेषण है—'व्यवसायात्मकम्'। 'व्यवसाय' पद वि-अव उपसर्गपूर्वक 'षो अन्तकर्मणि' धातु से 'णः' [३। १। १४१] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। अथवा 'घञ्' [३। ३। १८] प्रत्ययान्त निष्पत्ति भी मानीगई है। दोनों प्रकार से अर्थ होगा—क्रिया का पूर्णरूप से सम्पन्न होजाना। ज्ञान के विषय में क्रिया की सम्पन्नता 'निश्चय' पर होती है। अतः यहाँ 'व्यवसाय' पद का अर्थ है—निश्चय, अवधारण, निर्धारण। यद्यपि व्यवसाय पद का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों के अनुसार अनेक अर्थों में होता है, पर यहाँ उसका अर्थ केवल निश्चय है; ज्ञान का सर्वथा सन्देहरहित होना। ज्ञान के लिए जो क्रिया व्यवहृत होती है, उसका अन्त—'निश्चय' है। इसप्रकार व्यवसायात्मक पद का अर्थ हुआ—निश्चयात्मक। जो ज्ञान निश्चय के स्तर पर पहुँच जाता है, उसीको 'प्रत्यक्ष' मानाजाता है।

एक पथिक मार्ग में चलाजारहा है, साथ उसके अच्छी मोटी रकम है। अभी उसका गन्तव्य लक्ष्य-स्थान कुछ दूर है, सायंकाल होचुका है, कुछ अंधेरा घिर आया है, दूर की वस्तु स्पष्ट दिखाई नहीं देती, इतने में वह अपने सामने थोड़ी दूर पर कुछ खड़ा देखता है। वह द्विविधा में पड़जाता है कि यह क्या है? यदि यह कोई व्यक्ति है, तो वह अवाञ्छनीय हो सकता है; सम्भव है, साथ में बँधी रकम पर आक्रमण होजाय, और जान भी मुफ़्त में जाय। यदि वह निश्चय होजाय, तो वापस लौटचलना अच्छा होगा। सम्भव है, यह कोई व्यक्ति न होकर सूखा ठूँठ खड़ा हो। यदि ऐसा हो, तो आगे बढ़जाने में कोई भय न होगा। वह इन दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं करपाता। कारण यह है कि कुछ अंधेरा झुक आने से व्यक्ति के हाथ-पैर-सिर आदि तथा ठूँठ के कोटर (खोखल) व टेढ़ापन आदि विशेषधर्म दिखाई नहीं दे रहे; जो दोनों के समानधर्म हैं—ऊँचाई, चढ़ाव-उतार आदि—वे दिखाई दे रहे हैं। इससे पथिक

द्विविधा में पड़ा है—वह इसे ठूँठ समझे या कोई व्यक्ति ? यह ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने पर भी निश्चयात्मक न होने से प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता। यह संशयात्मक ज्ञान कहाजाता है। यदि 'व्यवसायात्मक' विशेषण न दियाजाता, तो ऐसा ज्ञान भी प्रत्यक्ष मानाजाता, जो दोषावह होता।

ऐसे प्रसंगों के उदाहरण अनेक हैं। एक व्यक्ति मार्ग पर चलाजारहा है। दूर जाना था, साथ में दाल-चावल बँधे हैं। भूख उभर आई है; सोचता है, कहीं आग मिलजाती तो इन्हें पकाकर खालिया जाता, क्षुधा निवृत्त होजाती। इतने में एक ओर वह कुछ धुन्ध-सा उठता हुआ देखता है। उसे देखकर वह द्विविधा में पड़जाता है, कि क्या यह धुआँ है, या धूल उड़रही है ? ऐसा ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने पर भी व्यवसायात्मक नहीं है, संशयात्मक है; अतः यह प्रत्यक्ष नहीं मानाजायगा।

व्यवसायात्मक विशेषण आवश्यक—सूत्र में कहा गया, व्यवसायात्मक ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होता है। इससे यह न समझना चाहिये कि जो ज्ञान आत्ममनःसन्निकर्षजन्य है, वह अनवधारणात्मक-अनिश्चयात्मक होता है; प्रत्युत चक्षु से देखेजाते हुए पदार्थ का भी द्रष्टा कभी-कभी निश्चय नहीं करपाता। जैसे चक्षु द्वारा अवधारण किये अर्थ का मन से अवधारण होता है; ऐसे ही चक्षु से अनवधारण किये अर्थ का मन से अनवधारण होता है। इन्द्रिय से जैसा अनवधारणात्मक ग्रहण होगा, मन से वैसा ही अनवधारणात्मक मनन होगा। ऐसी दशा में जब वहाँ विशेष धर्म जानने की अपेक्षा रहती है, तभी वह संशय का स्वरूप बनता है; उसेप्रत्यक्ष नहीं कहाजासकता। फलतः जो यह समझता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान निश्चयात्मक ही होता है, अतः सूत्र में 'व्यवसायात्मकम्' विशेषण अनावश्यक है, ऐसा समझना सर्वथा असंगत होगा।

प्रमा-अप्रमा—यह समझरखना चाहिये, प्रत्यक्ष के विषय में सर्वत्र इन्द्रिय के द्वारा अर्थ के साथ सन्निकर्षरूपव्यापार आवश्यक है। कोई द्रष्टा इन्द्रिय-साधन के विना बाह्य विषय का प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं होता, वह प्रत्यक्ष-ज्ञान चाहे यथार्थ हो, या अयथार्थ। यथार्थज्ञान को 'प्रमा' और अयथार्थज्ञान को 'अप्रमा' कहाजाता है। संशय और विपर्यय-ज्ञान 'अप्रमा' के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि इसकारण सूत्र की भावना के अनुसार उनके लिए 'प्रत्यक्षज्ञान' पद का प्रयोग नहीं होना चाहिये, परन्तु प्रमा-अप्रमा दोनों में इन्द्रियव्यापार समान होने से ये 'अप्रमा' के लिए भी औपचारिक रूप से केवल व्यवहार में 'प्रत्यक्षज्ञान' पद का प्रयोग कर दिया जाता है। वस्तुतः 'प्रमा' ही प्रत्यक्षज्ञान है, इसीलिए प्रमा के करण-साधन को 'प्रमाण' मानाजाता है। ऐसी दशा में इन्द्रियद्वारा गृहीत अनवधारणात्मक ज्ञान अथवा अप्रमारूप ज्ञान भी प्रत्यक्षकोटि में न आजाय, इसीलिए सूत्र में 'व्यवसायात्मकम्' विशेषण दिया गया है। उक्त मान्यता में यह

एक सुपुष्ट प्रमाण है कि जिन व्यक्तियों का कोई इन्द्रिय नष्ट होजाता है, उनको मन के रहते हुए भी नष्ट-इन्द्रिय के विषय का मन द्वारा अनुव्यवसाय-अवधारण नहीं होता। अतः निश्चय करना बुद्धि अथवा मन का धर्म होने पर भी मन उसी विषय का मनन-अनुव्यवसाय करता है, जो बाह्येन्द्रिय द्वारा गृहीत हो। इसीकारण अन्धे को रूप का एवं पूर्ण बधिर को शब्द का अनुव्यवसाय—मन की विद्यमानता में भी—नहीं होता।

आत्मा का प्रत्यक्ष मन के द्वारा—जिज्ञासा—सूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहागया है ! परन्तु मुख्य प्रमेय आत्मा और उसके सुख आदि गुणों का ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता। तब आत्मा आदि के प्रत्यक्षज्ञान का लक्षण भी बताना चाहिये। तात्पर्य है, चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों द्वारा आत्मा आदि प्रमेय का प्रत्यक्ष न होने से उक्त लक्षण आत्मा आदि के प्रत्यक्ष में घटित न होगा; अतः यह लक्षण अव्याप्ति-दोष से दूषित होने के कारण अग्राह्य माना जाना चाहिये।

समाधान—चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसन, घ्राण, ये पाँच बाह्य इन्द्रिय हैं। इनसे अतिरिक्त एक आन्तर इन्द्रिय 'मन' है। चक्षु आदि इन्द्रियों के वर्ग में सूत्रकार ने 'मन' का उल्लेख इनके परस्पर धर्मभेद के कारण नहीं किया। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, भूतों से यथायथ इनकी उत्पत्ति होती है— पृथिवी से घ्राण, जल से रसन आदि। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत एक विषय को ग्रहण करता है, जैसे—घ्राण गन्ध को, रसन रस को, चक्षु रूप को, इत्यादि। बाह्य इन्द्रियों में विषयग्राहकता इन्द्रियों के गुणसहित होने पर ही रहती है, जैसे—चक्षु रूपविशिष्ट-रूपवाला होता हुआ ही रूप का ग्राहक होता है, तथा घ्राण गन्ध-विशिष्ट, एवं रसन रसविशिष्ट होता हुआ, आदि।

इन सबके विपरीत मन अभौतिक पदार्थ है, नित्य है, पृथिवी आदि किन्हीं भूतों से उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त चक्षु आदि इन्द्रियों के समान रूपादि नियत विषय का ग्राहक न होकर मन रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि सभी विषयों का ग्रहण करता है। विषयग्रहण की क्षमता के लिए मन को गुणविशिष्ट [सगुण] मानना आवश्यक नहीं। रूप-रसादि गुणरहित भी मन रूप-रसादि गुणों के ग्रहण करने में समर्थ रहता है। बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का यह भेद होने के कारण सूत्रकार ने इन्द्रियवर्ग में इसका पाठ यद्यपि नहीं किया, परन्तु यह एक आन्तर इन्द्रिय है, और इसीके द्वारा आत्मा आदि प्रमेय का प्रत्यक्ष होता है। इसप्रकार आत्म-प्रत्यक्ष के आत्म-मनःसन्निकर्षजन्य होने से, उसके लिए अन्य प्रत्यक्ष-लक्षण अनपेक्षित है। उक्त लक्षण में उसका समावेश होजाने से न लक्षणान्तर की आवश्यकता है, न प्रस्तुत लक्षण में किसी प्रकार का दोष है।

मन के अस्तित्व में प्रमाण — जिज्ञासा—मन कोई अतिरिक्त पदार्थ है, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—सूत्रकार ने अभी आगे सोलहवें सूत्र में मन के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साधन का निर्देश किया है। वहाँ बताया है, चक्षु आदि सब इन्द्रियों का एक समय में अपने-अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष रहने पर भी सब विषयों का ज्ञान आत्मा को एक ही समय में नहीं होता। इसका कारण यही है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष रहता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण आत्मा को होता है, अन्य इन्द्रिय के विषय का नहीं। तात्पर्य है, आत्मा को बाह्य विषय के ज्ञान के लिए आवश्यक है—बाह्य विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो, इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष हो, मन के साथ आत्मा का संयोग हो। इस शृंखला के पूरा होने पर बाह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होता है। इसमें मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्यथा अनेक विषयों का एक ही क्षण में ज्ञान होता रहना चाहिये। यही मन के अस्तित्व में प्रमाण है।

मन इन्द्रिय है—जिज्ञासा—यह ठीक है, सूत्रकार ने बाह्य इन्द्रियवर्ग में—धर्मभेद के कारण—मन का उल्लेख नहीं किया; परन्तु सूत्रकार ने मन के इन्द्रिय होने का अपने शास्त्र में क्या कहीं अन्यत्र उल्लेख किया है ?

समाधान—यद्यपि अपने शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं हुआ, परन्तु अन्य शास्त्र [तन्त्रान्तर] में ऐसा स्पष्ट उल्लेख कियागया है।[1] उस मन्तव्य का यदि यहाँ प्रतिषेध नहीं है, तो उसे स्वीकार करने में कोई हानि नहीं[2] ॥ ४ ॥

अनुमान-प्रमाण लक्षण—प्रत्यक्षलक्षण के अनन्तर क्रमप्राप्त अनुमान के लक्षण का सूत्रकार ने निर्देश किया—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्-पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ॥ ५ ॥

[अथ] अनन्तर [तत्पूर्वकम्] प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला [त्रिविधम्] तीन प्रकार का [अनुमानम्] अनुमान-प्रमाण है। वे तीन प्रकार हैं—[पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टम्] पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट [च] तथा।

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यदर्शन, अध्याय २, सूत्र १७, १९, २६, ३२ ॥

२. भाष्यकार [वात्स्यायन] ने इस आशय का एक सन्दर्भ कौटलीय अर्थशास्त्र से यहाँ उद्धृत किया है—" 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्' इति हि तन्त्र-युक्तिः।" अर्थशास्त्र में 'तन्त्रयुक्ति' नाम का पन्द्रहवाँ अन्तिम अधिकरण है। उसमें ४६वीं संख्या पर उक्त सन्दर्भ है। वहाँ पाठ इसप्रकार-है—'परवाक्यमप्रतिषिद्धमनुमतम्।'

प्रत्यक्ष लक्षण के अनन्तर अब अनुमान-प्रमाण का लक्षण बताते हैं—'तत्पूर्वकं अनुमानम्'। यहाँ लक्षण का स्वरूप केवल इतना है—'तत्पूर्वकम्'। 'अनुमानं' लक्ष्य पद है। लक्षण में 'तत्' पद प्रत्यक्ष का बोधक अथवा परामर्शक है। 'पूर्व' पद कारण का प्रत्यायक है। तात्पर्य हुआ—प्रत्यक्ष है कारण जिसका, ऐसा अनुमान प्रमाण होता है। अनुमान में कोई साध्य, हेतु एवं उदाहरण आदि को प्रस्तुत कर—सिद्ध कियाजाता है। यद्यपि अनुमान के प्रयोग में पाँच अवयवों [वाक्य खण्डों] का प्रयोग कियाजाता है, तथापि महत्त्वपूर्ण अवयव साध्यसिद्धि के लिए 'हेतु' होता है, उसीको 'साधन' कहाजाता है। यह नाम ही उसके महत्त्व का द्योतक है।

सूत्र में 'तत्' पदबोध्य प्रत्यक्ष से साध्य-साधन के परस्पर सम्बन्ध का प्रत्यक्ष एवं अनन्तर अनुमान-काल में साधन का प्रत्यक्ष होना अभिप्रेत है। साध्य-साधन के परस्पर सम्बन्ध को संक्षेप में 'व्याप्ति' कहाजाता है। अनुमान में सर्वप्रथम व्याप्ति का प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिये। व्यक्ति महानस [रसोईघर, पाकशाला] में देखता है कि जब आग जलाई जाती है, तो उससे धुआँ अवश्य उठता है। इससे वह जानलेता है कि धुएँ का कारण आग है। धुआँ आग के बिना हो नहीं सकता। ऐसा प्रत्यक्षज्ञान ही 'व्याप्तिज्ञान' है। इसे तार्किक भाषा में—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' इसप्रकार बोलाजाता है। जहाँ धुआँ है, वहाँ आग अवश्य है, क्योंकि आग के बिना धुआँ होना सम्भव नहीं।

हेतु, साधन, लिंग ये पद एक ही अर्थ को कहते हैं, इसीप्रकार साध्य, लिंगी ये पर्याय पद हैं। साध्य और साधन अथवा लिंगी और लिंग के सम्बन्ध का उक्त प्रकार प्रत्यक्ष होजाने के अनन्तर प्रत्यक्षज्ञान की स्थिति तो नहीं रहती, उसका संस्कार [भावनाख्य] आत्मा में रहजाता है। ऐसा व्यक्ति, जिसने लिंग-लिंगी-सम्बन्ध का प्रत्यक्षज्ञान करलिया है, कभी जंगल में चलाजारहा है, उसे आग की आवश्यकता होती है। इधर-उधर दृष्टिपात करता हुआ चलरहा है। एक जगह उसे धुआँ उठता हुआ दिखाई देता है। उसको देखते ही वह संस्कार जागजाता है, जो महानस में हुए ज्ञान से आत्मा में उत्पन्न हुआ था। संस्कार के जागते ही साध्य-साधन के सम्बन्ध का स्मरण हो आता है। उस समय धुएँ के दीखने और साध्य-साधन के सम्बन्ध का स्मरण हो आने से उस व्यक्ति को वहाँ अग्नि का ज्ञान होजाता है। अनुमान-प्रमाण से हुआ यह ज्ञान 'अनुमिति-ज्ञान' कहाजाता है। अनुमान का प्रयोग इसप्रकार होगा—

अनुमान के पाँच अवयव

१. 'पुरःप्रदेशो वह्निमान्' सामने जगह आगवाली है। यहाँ 'आग' साध्य है, प्रदेश [जगह] अधिकरण है। साध्य के अधिकरण को तार्किक भाषा में

'पक्ष' कहाजाता है। प्रस्तुत शास्त्र की प्रणाली से अनुमान के पाँच अवयवों में यह 'प्रतिज्ञा' वाक्य है।

२. 'धूमात्'—वहाँ धुआँ दीखने से। यह हेतुवाक्य है। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग अवश्य होती है, यह व्याप्ति का स्मरण है।

३. 'महानसवत्'—जैसे रसोईघर में। यह दृष्टान्तवाक्य है।

४. 'तथाचायम्'—वैसा ही यहाँ है, अर्थात् सामने धुआँ दिखाई देरहा है। इसे पाँच अवयवों में 'उपनय' वाक्य कहाजाता है।

५. 'तस्मात्तथा'—धुआँ वाला होने से यह प्रदेश अवश्य आगवाला है। यह पाँच अवयवों में 'निगमन' वाक्य है। इसके आधार पर वहाँ आग के होने का निश्चय होजाता है।

इसप्रकार वर्त्तमान में साधन-धूम के दीखने—और उससे लिङ्ग-लिङ्गी अर्थात् साध्य-साधन के सम्बन्ध की स्मृति—से अप्रत्यक्ष अर्थ 'अग्नि' का अनुमान द्वारा ज्ञान होजाता है। इस स्मृति का मूल वह प्रत्यक्षज्ञान है, जो प्रथम महानस आदि में साध्य-साधनसम्बन्ध का व्यक्ति को साक्षात् होता है। कोई अनुमान इसके बिना हो नहीं सकता, इसलिए अनुमान के लक्षण में प्रत्यक्षपूर्वकता का प्राधान्य रहता है।

अनुमान के तीन भेद—अनुमान-प्रमाण—विशिष्ट वाक्य-प्रयोगों द्वारा किसी अदृष्ट अर्थ को जानलेने-समझलेने की एक पद्धति है, जिसका संक्षिप्त संकेत गत पंक्तियों में कियागया, तथा आगे क्रमानुसार[1] विस्तार के साथ कियाजायगा। ऐसे कतिपय आधारों पर अनुमान तीन प्रकार का मानागया है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—यह पद 'मतुप्' प्रत्ययान्त, तथा 'वति' प्रत्ययान्त दोनों प्रकार निष्पन्न होता है। 'पूर्व' पद यहाँ कारण का बोधक है, क्योंकि कारण सदा कार्य से पूर्व विद्यमान रहता है। प्रथम प्रत्ययान्त के अनुसार अर्थ होगा—कारण-वाला। तात्पर्य हुआ—जहाँ कारण से कार्य का अनुमान हो। अनुमान का यह प्रकार 'पूर्ववत्' कहाता है, जैसे—उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देखकर यह अनुमान होजाता है कि अभी आसन्न भविष्यत् में वर्षा होनेवाली है। यहाँ उन्नत-मेघ कारण और वर्षा कार्य है। कार्योन्मुख कारण से होनेवाले कार्य का अनुमान होजाता है। तन्तुओं के परिष्कृत आतान-वितान से उत्पद्यमान पट का अनुमान होजाता है। इन तन्तुओं में अब पट उत्पन्न होगा।

शेषवत्—पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझाजाता है, अतः यह 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है। अर्थ हुआ—कार्यवाला, वह

---

१. प्रथम सूत्र में परिगणित सोलह पदार्थों में से 'अवयव' नामक पदार्थ का क्रमप्राप्त विवरण [१।१।३२-३९] सूत्रों में प्रस्तुत है।

कारण होगा। तात्पर्य है—जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो। अनुमान के इस प्रकार को 'शेषवत्' नाम दियाजाता है, जैसे—साधारण जलप्रवाह के विपरीत नदी का पानी बहुत चढ़ आया है; प्रवाह बहुत तीव्र है; जल, मिट्टी, सूखे पत्ते, कूड़ा-कबाड़ आदि मिला बहुत मलिन है; कभी पेड़ व झाड़-झंखाड़ भी बहे चले आरहे हैं; नदी के ऐसे प्रवाह से ऊपरी भागों में कहीं वृष्टि के होने का अनुमान होता है। नदीजल का वैसा प्रवाह कार्य तथा वृष्टि उसका कारण है। यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है। धूम-कार्य से अग्नि-कारण का अनुमान भी इसका उदाहरण है।

सामान्यतोदृष्ट—इस पद के अंश 'समान' पद का अर्थ यहाँ 'एक' है। स्वार्थ में 'ष्यञ्' और सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय द्वारा 'सामान्यतः' पद निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होगा—एकत्वेन दृष्ट। तात्पर्य है—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहाँ अदृष्ट अर्थ का अनुमान कराता है, वह अनुमान का 'सामान्यतोदृष्ट' नामक तीसरा प्रकार है, जैसे—गत वर्ष मैंने जिस देवदत्त को वाराणसी में देखा था, वही आज ग़ाज़ियाबाद में विद्यमान है। वाराणसी में देखे देवदत्त का ग़ाज़ियाबाद में दीखना—हमारे लिए अदृष्ट—उसकी यात्राका अनुमान कराता है। यात्रा के बिना देवदत्त का वाराणसी में दीखने के अनन्तर ग़ाज़ियाबाद में दीखना सम्भव नहीं; अतः कालान्तर से विभिन्न प्रदेश में किसी व्यक्ति या पदार्थ का दीखना उसकी यात्रा अथवा गति का अनुमान कराता है, जिसको अनुमाता ने देखा नहीं है।

इसीप्रकार प्रातःकाल सूर्य पूर्व में दीखता है, मध्याह्न में ऊपर और सायंकाल पश्चिम में। एक ही सूर्य की यह स्थिति साधारणजन को उसकी गति का अनुमान कराती है। सूर्य की गति साधारणतया दीखती नहीं; एक सूर्य का विभिन्न प्रदेश में दीखना उसका अनुमापक है। भाष्यकार वात्स्यायन ने यह उदाहरण साधारण लोकव्यवहार के आधार पर प्रस्तुत किया है। 'सूर्य उदय हो रहा है, सूर्य कितना चढ़ आया है, अब सूर्य ढल रहा है, अब छिपगया है' इत्यादि व्यवहार सर्वत्र लोक में समानरूप से देखाजाता है। उसीके अनुसार भाष्यकार ने आदित्य-गति के अनुमान का उदाहरण दिया है।[1]

---

१. आधुनिक कतिपय व्यक्तियों के मुख से प्रायः ऐसा कथन सुनने में आता रहता है कि भाष्यकार वात्स्यायन को इतना भी पता न था कि सूर्य चलता भी है या नहीं ? सूर्य की ऐसी स्थिति पृथिवी की गति के आधार पर प्रतीत होती है; ऐसा ज्ञान तात्कालिक भारतीय आचार्यों को नहीं था, इसीकारण आदित्य की गति का उल्लेख कियागया।

निवेदन है, जिन व्यक्तियों ने प्रथम इस बात को उछाला है, उनके पूर्वाचार्य पृथिवी को चपटा मानते रहे हैं। उसके समाधान में ही सूर्यगति

'पूर्ववत्' अनुमान का अन्य विवरण—उक्त पदों का व्याख्यान प्रकारान्तर से भी कियाजाता है—

पूर्ववत्—इस अर्थ के अनुसार 'पूर्ववत्' पद तुल्यार्थक 'वति' प्रत्ययान्त समझना चाहिये। अर्थ होगा—पहले के समान। तात्पर्य है, व्यक्ति महानस आदि में जैसे प्रथम अग्नि और धूम के सम्बन्ध को देखता है, तथा समझलेता है कि अग्नि के विना धूम नहीं हो सकता, उसीके समान जब वह व्यक्ति कहीं केवल धूम को देखता है तो उससे वह अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान करलेता है। यहाँ धूम साधन और अग्नि साध्य है—'धूमेन हेतुना अग्नेरनुमानं भवति।'

यह अनुमान दो प्रकार का होता है, एक—समव्याप्तिक, दूसरा—विषम-व्याप्तिक। पहला वह अनुमान होता है, जहाँ साध्य और साधन दोनों एक-दूसरे के साध्य व साधन होसकें। तात्पर्य है, साध्य-साधन दोनों का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव हो, जैसे—'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु से घट का 'अनित्यत्व' सिद्ध कियाजाता है—'घटः अनित्यः, उत्पत्तिमत्त्वात्'। यहाँ घट अधिकरण अथवा पक्ष में 'अनित्यत्व' साध्य है, 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु है। इसकी व्याप्ति होगी—'यो य उत्पत्तिमान् स सोऽनित्यः' जो उत्पन्न होने वाला पदार्थ है, वह अनित्य होता है। इसप्रकार व्याप्ति के कथन में व्याप्य का पहले और व्यापक का अनन्तर

का समाधान अन्तर्निहित है। वस्तुतः ज्योतिःशास्त्र का प्रकाण्ड वैदुष्य होने पर भी भाष्यकार को यहाँ शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना अभिवाञ्छित नहीं है। वह केवल ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता है, जो आ-पामर प्रसिद्ध एवं लोकव्यवहारसिद्ध है, जिसके आधार पर वह अदृष्ट अर्थ को जानने की एक प्रक्रिया को समझाना चाहता है। उसने सूर्यगति की स्थापना नहीं की। आज का गर्वीला वैज्ञानिक भी 'सूर्योदय' को यह नहीं कहता कि 'पृथिवी घूम गई है'। सतही बात को न लेकर हमें वस्तुस्थिति पर अधिक ध्यान देना चाहिये। वैसे लोकव्यवहार में इसप्रकार के अनेक उदाहरण देखे जासकते हैं, जैसे—यह सड़क दिनरात चलती है, यह रास्ता कहाँ जाता है ? यह मार्ग दिल्ली को जारहा है। न केवल अब, प्रत्युत सहस्रों वर्ष पूर्व के संस्कृत-साहित्य में भी ऐसे व्यवहार का अभाव नहीं है। 'एष पन्थाः स्रुघ्नं याति, अयं पन्थाः पाटलिपुत्रं याति' ऐसे प्रयोग साहित्य में उपलब्ध हैं। ऐसे ही जब व्यक्ति किसी नगर को जारहा होता है, तब उसके समीप पहुँचकर अनायास ये शब्द मुँह से निकलते हैं—अब दिल्ली आगया, आगरा आगया, कलकत्ता आगया, आदि। इसलिए भाष्यकार द्वारा दियेगये उदाहरण के आधार पर भाष्यकार की अज्ञानता को समझना अपनी अज्ञानता का द्योतन करना है।

कथन कियाजाता है। यह एक व्यवस्था है—'व्याप्यस्य पूर्वं वचनं व्यापकस्य ततः परम्।' व्याप्ति के ऐसे निर्देश में हेतु अर्थात् साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है।

उक्त उदाहरण में साध्य-साधन को परस्पर बदला जासकता है। साध्य को साधन अथवा व्यापक को व्याप्य, एवं साधन को साध्य, एवं व्याप्य को व्यापक मानकर व्याप्ति का निर्देश कियाजासकता है। पहले प्रयोग में 'अनित्यत्व' साध्य और 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु है। इसे बदलकर प्रयोग होगा—'घटः उत्पत्तिमान्, अनित्यत्वात्' यहाँ पहले प्रयोग का साध्य, साधन बनगया है, और जो साधन था, वह साध्य बनगया। उसीके अनुसार व्याप्ति का प्रयोग होगा—यो योऽनित्यः, स स उत्पत्तिमान्' जो पदार्थ अनित्य है, वह उत्पत्तिवाला होता है। इसप्रकार 'अनित्यत्व' और 'उत्पत्तिमत्त्व' दोनों धर्म समान व्याप्तिवाले हैं। इनमें से प्रत्येक एक-दूसरे का साध्य व साधन कहाजासकता है। इसलिए यह 'पूर्ववत्' समव्याप्तिक अनुमान मानाजायगा।

यह स्थिति 'धूम-अग्नि' के उदाहरण में नहीं है। यहाँ 'धूम' हेतु-साधन अर्थात् व्याप्य है, अग्नि साध्य अर्थात् व्यापक है। व्याप्तिनिर्देश की व्यवस्था के अनुसार पहले व्याप्य और पुनः व्यापक का निर्देश होगा—'यत्र धूमः, तत्र अग्निः' जहाँ धुआँ है, वहाँ आग अवश्य होती है। इसको बदलकर—'जहाँ आग है, वहाँ धुआँ अवश्य होता है' ऐसा निर्देश नहीं किया जासकता। अर्थात् यहाँ व्याप्य का व्यापक के रूप में और व्यापक का व्याप्य के रूप में निर्देश नहीं होगा; क्योंकि दहकते अंगारों में आग के रहते भी धुआँ नहीं रहता। इस कारण यह 'पूर्ववत्' 'विषमव्याप्तिक' अनुमान कहाता है।

'पूर्ववत्' अनुमान का व्यतिरेकी रूप में भी प्रयोग कियाजाता है। समव्याप्तिक पूर्ववत् अनुमान में व्यतिरेकव्याप्ति दिखाने के लिए साधनाभाव से साध्याभाव का निर्देश होगा, जैसे—अनित्यत्वसाध्य में उत्पत्तिमत्त्व हेतु है। जो उत्पत्तिवाला है, वह अनित्य है; यह अन्वयव्याप्ति है। व्यतिरेकव्याप्ति के लिए कहाजायगा—जो उत्पत्तिवाला नहीं है, वह अनित्य नहीं होता; जैसे—आकाश, आत्मा आदि। साध्य-साधन परस्पर उलटजाने पर भी हेत्वभाव से साध्याभाव का निर्देश होगा; जो अनित्य नहीं, वह उत्पत्तिवाला नहीं होता। उदाहरण पहले के समान। अन्वयव्याप्ति में उदाहरण के लिए सभी अनित्य पदार्थों—पट, मठ, कठ, जलादि—में से किसीका उल्लेख कियाजासकता है।

इस व्यवस्था के विपरीत विषमव्याप्तिक पूर्ववत् अनुमान में व्यतिरेकव्याप्ति दिखाने के लिए साधनाभाव से साध्याभाव का निर्देश न कर, साध्याभाव से साधनाभाव का निर्देश होगा। विषमव्याप्तिक 'धूम-अग्नि' के उदाहरण में अन्वयव्याप्ति के लिए धूम से अग्नि का होना बतायाजाता है—धूमसत्त्वे अग्नि-

सत्त्वम् । परन्तु व्यतिरेकव्याप्ति के लिए हेत्वभाव से साध्याभाव का निर्देश नहीं कियाजासकता। समव्याप्तिक अनुमान की व्यतिरेकव्याप्ति के समान यहाँ यह नहीं कहाजासकता कि—'जहाँ धुआँ नहीं होता, वहाँ आग नहीं होती'। यहाँ साध्याभाव से साधनाभाव का निर्देश होगा—'जहाँ अग्नि नहीं होता, वहाँ धुआँ नहीं होता'।

फलतः समव्याप्तिक और विषमव्याप्तिक दोनों प्रकार के पूर्ववत् अनुमान में अन्वयव्याप्ति का निर्देश समानरूप से होगा—हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्वम् । परन्तु व्यतिरेकव्याप्ति के निर्देश में अन्तर होगा । समव्याप्तिक अनुमान में—हेत्वभावे साध्याभावः । विषमव्याप्तिक अनुमान में—साध्याभावे हेत्वभावः । ऐसा समझना चाहिये ।

'शेषवत्' का अन्य विवरण—शेषवत्—इस पद का अर्थ है, परिशेष, अर्थात् बचा हुआ । किसी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने के लिए, अन्य विविध पदार्थों से उसके भेद का उपपादन करने पर जो पदार्थ शेष रहजाता है; अर्थात् जिसके साथ उसके भेद का वर्णन नहीं हुआ; वही स्वरूप उस पदार्थ का समझलिया जाता है । जैसे—शब्द के स्वरूप का निर्णय करने के लिए प्रसंग चलाया—शब्द सत् अर्थात् सत्तावाला है, और अनित्य है, यह जानलेने पर इतना निश्चय होजाता है कि शब्द न सामान्य (जातिरूप) होसकता है, न विशेष और न समवाय । क्योंकि इन पदार्थों में न सत्ता-जाति रहती है और न ये अनित्य हैं । इसलिए शब्द सत्ता जातिवाला और अनित्य होने से सामान्य, विशेष, समवाय इन पदार्थों से अलग होजायगा । सामान्य आदि से अतिरिक्त तीन पदार्थ और हैं—द्रव्य, गुण, कर्म । तब विवेचन करना होगा—शब्द द्रव्य है, गुण है या कर्म है ?

ज्ञात हुआ—शब्द द्रव्य नहीं होसकता, क्योंकि शब्द अनित्य है; जो अनित्य द्रव्य होते हैं, उनके समवायिकारण अनेक द्रव्य हुआ करते हैं । किसी भी अनित्य द्रव्य का समवायिकारण एक द्रव्य कभी नहीं होता। परन्तु शब्द का समवायिकारण केवल एक द्रव्य—आकाश है । अतः शब्द का द्रव्य मानाजाना सम्भव नहीं ।

शब्द, कर्म पदार्थ के वर्ग में भी नहीं आता, क्योंकि कर्म कभी दूसरे कर्म का कारण नहीं होता; अर्थात् कोई कर्म किसी अन्य कर्म को कभी उत्पन्न नहीं करता ।[1] इसके विपरीत शब्द अन्य शब्द का उत्पादक होता है । वक्ता के मुख से उच्चरित शब्द, श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय तक शब्द-सन्तति द्वारा पहुँचता है । मुखोच्चरित प्रथम शब्दसे समानजातीय शब्द आगे-आगे उत्पन्न होतेजाते हैं, और वह ध्वनि

---

१. **'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' वैशेषिकदर्शन, १ । १ । ११ ॥**

इसप्रकार श्रोत्र तक पहुंच जाती है। अतः शब्द, शब्दान्तर का हेतु होने से कर्म के वर्ग में समावेश नहीं पाता। इसप्रकार द्रव्यादि पाँच पदार्थों से अतिरिक्त केवल एक पदार्थ शेष रहजाता है। उस वर्ग में असमावेश के लिए कोई हेतु न होने के कारण शब्द का समावेश गुण-वर्ग में मानलियाजाता है। इस परिशेष-अनुमान के आधार पर शब्द का गुण होना निश्चित होजाता है।

सामान्यतोदृष्ट का अन्य विवरण

सामान्यतोदृष्ट—प्रथम अनुमान का लक्षण बताया—'तत्पूर्वकम्' अर्थात् वह प्रत्यक्षपूर्वक-प्रत्यक्षहेतुक होता है, जिसका तात्पर्य है—साध्य और साधन के परस्पर सम्बन्ध का प्रथम प्रत्यक्ष होना। परन्तु कतिपय प्रसंग ऐसे हैं, जहाँ साध्य-साधनसम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता। वहाँ किसी सामान्य से—अन्य की समानता से—अदृष्ट अर्थ का बोध करायाजाता है। ऐसा अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' पद से कहागया है। इसको स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दियाजाता है, जैसे—इच्छा आदि गुणों से आत्मा का अनुमान होता है। गुणों का यह समानधर्म है कि वे द्रव्याश्रित रहते हैं। प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य में समवेत रहेगा। गन्ध, रस, रूपादि गुण पृथिवी आदि द्रव्यों में समवेत रहते हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि गुण भी रूपादि के समान किसी द्रव्य में आश्रित रहने चाहियें। इनका जो आश्रय है, वही 'आत्मा' नामक द्रव्य है। इस-प्रकार रूपादि गुणों की समानता के आधार पर इच्छादि गुणों से—उनके आश्रय के रूप में—'आत्मा' सिद्ध होता है। यह 'सामान्यतोदृष्ट' नामक अनुमान का एक प्रकार है।

केवलान्वयि-अनुमान—नव्य न्याय की परम्परा में सूत्रपठित 'पूर्ववत्' पद केवलान्वयि अनुमान का; 'शेषवत्' केवलव्यतिरेकि का; तथा 'सामान्यतोदृष्ट' पद अन्वयव्यतिरेकि अनुमान का बोधक मानाजाता है। जिस अनुमान में केवल अन्वयव्याप्ति बने, वह केवलान्वयि; जिसमें केवल व्यतिरेकव्याप्ति बने, वह केवलव्यतिरेकि, और जिसमें उभयप्रकार व्याप्ति बने, वह अन्वयव्यतिरेकि अनुमान कहाजाता है।

केवलान्वयि का उदाहरण है—'घटोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्, पटादिवत्'। प्रत्येक पदार्थ के लिए अभिधा-वाचक पद की कल्पना कीजाती है; ऐसे ही प्रत्येक पदार्थ प्रमाज्ञान का विषय मानाजाता है; अतः प्रत्येक पदार्थ अभिधेय व प्रमेय है। ऐसी स्थिति में किसी विशिष्ट पदार्थ को पक्ष [साध्याधिकरण] मानकर 'जो प्रमेय है, वह अभिधेय अवश्य होता है' [यत्र प्रमेयत्वं तत्र अभिधेयत्वम्] इस रूप में दोनों धर्मों की केवल अन्वयव्याप्ति बनसकती है। 'जो प्रमेय नहीं है, वह अभिधेय नहीं है' इस प्रकार इन दोनों धर्मों की

व्यतिरेकव्याप्ति को नहीं बोलाजासकता, क्योंकि इसका दृष्टान्त मिलना असम्भव है।

केवलव्यतिरेकि-अनुमान—केवलव्यतिरेकि का उदाहरण है—'पृथिवी इतरेभ्यो [जलादिभ्यो] भिद्यते, गन्धवत्त्वात्'। केवलव्यतिरेकव्याप्ति में 'हेतु' रूप से पक्षवृत्ति असाधारणधर्म का उपयोग कियाजाता है। वह धर्म पक्ष के अतिरिक्त और कहीं नहीं पायाजाता। पृथिवी पक्ष में 'गन्धवत्त्व' ऐसा ही हेतु है। इतरभेद [जलादि से पृथिवी का भेद] साध्य है। यहाँ 'जो गन्धवाला है, वह जलादि से भिन्न है' ऐसी अन्वयव्याप्ति नहीं बनसकती; क्योंकि इसका दृष्टान्त मिलना असम्भव है। जो गन्धवाला है, वह केवल पृथिवी है, और वह पक्ष है; पक्ष-संदिग्ध साध्य का अधिकरण होता है; दृष्टान्त में सपक्ष का प्रयोग कियाजाता है, जो निश्चित साध्य का अधिकरण होता है। समस्त पृथिवी के पक्ष होने से सपक्ष का मिलना असम्भव है, क्योंकि पृथिवी के अतिरिक्त गन्ध अन्यत्र कहीं नहीं रहता। अतः यहाँ केवलव्यतिरेकव्याप्ति का आश्रय लिया-जाता है—'यदितरेभ्यो न भिद्यते, न तद् गन्धवत्, यथा जलादिकम्' जो जलादि से भिन्न नहीं है, वह गन्धवाला भी नहीं है। गन्धाभाव जलादि में निश्चित है, सन्दिग्ध नहीं। अतः व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर जलादि दृष्टान्त सम्भव हैं।

अन्वय-व्यतिरेकि-अनुमान—अन्वयव्यतिरेकि का उदाहरण है—धूम से अग्निका अनुमान। यहाँ उभयप्रकार व्याप्ति संभव है। 'जहाँ आग नहीं, वहाँ धुआँ नहीं होता' इस व्यतिरेकव्याप्ति में उदाहरण—'जलह्रद' आदि होगा। इसका विवरण प्रथम आचुका है।

इसका अन्य उदाहरण—'शब्दोऽनित्यः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्' है। जो उत्पत्ति-धर्मक है, वह अनित्य है, जैसे घटादि पदार्थ; यह अन्वयव्याप्ति है। जो उत्पत्तिधर्मक नहीं है, वह अनित्य भी नहीं; जैसे आकाश आदि। यह व्यतिरेकव्याप्ति है।

'त्रिविध' सूत्रपद — जिज्ञासा—सूत्रकार ने जब अनुमान के तीन विभागों को 'पूर्ववत्' आदि नामनिर्देशपूर्वक अभिव्यक्त करदिया, तब उससे अनुमान का त्रैविध्य स्पष्ट होजाता है; सूत्र में 'त्रिविध' पद का पाठ अनावश्यक प्रतीत होता है।

समाधान—अनुमान आदि प्रमाणों से अर्थ के निश्चय करने का क्षेत्र अति महान् व विस्तृत है, ऐसे विषय का लक्षण-निर्देश करने के लिए वस्तुतः सूत्रकार ने बहुत छोटे सूत्र की रचना की। उसे और अधिक लघु बनाने में सूत्रकार ने उस महान् क्षेत्र का सम्भवतः अनादर समझा; अतः सूत्र को और छोटा करने में उसने अपना आदरभाव प्रकट नहीं किया। सूत्रकार ने इस भावना को शास्त्र

में अन्यत्र शब्द [१ । १ । ८], छल [१ । २ । ११] आदि लक्षणों के प्रसंग पर अभिव्यक्त किया है। सिद्धान्तलक्षणप्रसंग [१ । १ । २७] में भाष्यकार ने 'स चतुर्विधः' ऐसा निर्देश किया है।[1]

अनुमान-प्रमाण के महान् विस्तृत क्षेत्र का होना इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष का क्षेत्र केवल वर्त्तमानकालिक है; अर्थात् प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति मात्र वर्तमान पदार्थों में सम्भव है। इसके विपरीत अनुमान-प्रमाण की प्रवृत्ति अतीत, अनागत, वर्तमान सभी कालों में विद्यमान पदार्थों के ग्रहण करने में होती है। अर्थात् तीनों कालों में होनेवाले पदार्थों का ज्ञान अनुमान- प्रमाण द्वारा होना सम्भव होता है ॥ ५ ॥

उपमान-प्रमाण—क्रमप्राप्त उपमान का लक्षण सूत्रकार बताता है—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

[प्रसिद्धसाधर्म्यात्] जाने हुए साधर्म्य-सादृश्य से [साध्यसाधनम्] साध्य का साधन [उपमानम्] उपमान होता है।

तीसरा प्रमाण उपमान है। किन्ही दो पदार्थों का साधर्म्य-सादृश्य पहले से ज्ञात होजाने पर उस सादृश्यज्ञान से, प्रथम अदृष्ट वस्तु के सामने आजाने पर उसके नाम का ज्ञान होजाना उपमान है। जैसे—एक वनवासी नगर में आया, वनवासी व्यक्ति वन के अनेक जानवरों और वहाँ उत्पन्न होनेवाली अनेक ओषधियों से परिचित होते हैं। नागरिक ने वनवासी से पूछा, क्या आप माषपर्णी और मुद्गपर्णी ओषधियों को पहचानते हैं? हमें आवश्यकता है, वन में जाकर लाना चाहते हैं; वहाँ उन्हें कैसे पहचानें? वनवासी ने कहा, आपने कभी उड़द और मूँग के पौधे को देखा है? नागरिक बोला, उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ। वनवासी ने बताया—उड़द के पौधे के समान माषपर्णी और मूँग के पौधे के समान मुद्गपर्णी का पौधा होता है। इससे नागरिक को उड़द और माषपर्णी तथा मूँग और मुद्गपर्णी के परस्पर-सादृश्य का ज्ञान होजाता है। यह सादृश्यज्ञान शाब्दिक है, अर्थात् शब्दप्रमाणजन्य।

जब नागरिक अवसर पाकर जंगल में जाता है, तो वहाँ ढूंढने पर कुछ पौधे उसे उड़द और मूँग के पौधों के समान दिखाई देते हैं। उन्हें देखते ही वह

---

१. **वस्तुतः आजकल मुद्रित पुस्तकों में भाष्यांश के रूप से निर्दिष्ट-पद सूत्र [१ । १ । २७] के अंश होने चाहियें। वहाँ भाष्यकार का सूत्रावतरणिका का पाठ—'तन्त्रभेदात्तु खलु'—इतना ही रहा होगा। यदि ऐसा न होता, तो भाष्यकार यहाँ छल और शब्द के साथ 'सिद्धान्त' का उल्लेख न करता।**

पहले जाने हुए इनके सादृश्य का स्मरण होआने पर यह जानलेता है कि इस पौधे का नाम माषपर्णी और इसका मुद्गपर्णी है। पौधा उसे प्रत्यक्ष से दिखाई दे रहा है। यदि उसे पहले से उड़द और माषपर्णी के सादृश्य का ज्ञान न होता, तो उस पौधे को देखते हुए भी वह नहीं जानसकता था कि इस पौधे का नाम माषपर्णी है। इस संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान का साधन दोनों पौधों का सादृश्यज्ञान है। इसप्रकार सादृश्यज्ञान उपमान-प्रमाण और संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान-उपमिति उसका फल है। यदि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान-प्रमाण मानाजाय, तो उसका फल हान-उपादान-उपेक्षाबुद्धि होगा।

इसीप्रकार गो-गवयसादृश्यज्ञान से वनचारी गवय प्राणी के नाम का बोध होता है। उपमान-प्रमाण का उदाहरण-क्षेत्र अन्य प्रमाणों के समान विस्तृत न होने पर भी नितान्त न्यून नहीं है। दैनिक व्यवहार में—जाने न जाने—इसके अनेक प्रसंग आते रहते हैं। व्यापार तथा अन्य व्यवहार के क्षेत्र में वस्तु की शुद्धता, दृढ़ता आदि को समझने के लिए प्रायः इसीका आश्रय लियाजाता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि यह प्रमाण शब्दपूर्वक होने के साथ प्रत्यक्षपूर्वक भी है। पहला सादृश्यज्ञान शब्दप्रमाणमूलक है, और संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान में पहले वस्तु का दीखना प्रत्यक्ष है। यदि जिज्ञासु को उपमेय पदार्थ का प्रत्यक्ष न होगा, तो संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान के होने का अवसर नहीं आसकता।

साधर्म्य के समान वैधर्म्यज्ञान से भी कभी-कभी वस्तु का बोध होजाता है। भैंसे के समान भारी-भरकम होने पर भी एक वनचारी प्राणी गैंडा की नाक पर सींग होता है, सिरपर नहीं। इस नाकपर सींग के वैलक्षण्य से गैंडा [खड्गमृग] की पहचान होजाती है ॥ ६ ॥

शब्दप्रमाण—क्रमप्राप्त शब्दप्रमाण का लक्षण सूत्रकार बताता है—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

[आप्तोपदेशः] आप्त का उपदेश-कथन [शब्दः] शब्द नामक प्रमाण है।

किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को आप्त कहाजाता है। साक्षात्कार का अर्थ है—जो वस्तु जैसी है, उसको उसीरूप में निश्चयपूर्वक जानना। ऐसा जानकर पुरुष जब उस वस्तु के विषय में अन्य व्यक्तियों को बताने के लिए प्रवृत्त होता है, तब वह उपदेष्टा है; उसका कथन शब्द-प्रमाण है। ऐसे पुरुष को 'आप्त' इस आधार पर कहाजाता है कि पदार्थ के उसप्रकार जानने का नाम 'आप्ति' है। यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' [स्वादिगण] धातु से निष्पन्न होता हैं, जिसका भाव है—पूर्ण जानकारी। उस 'आप्ति' के साथ अपने कार्य में प्रवृत्त होनेवाला पुरुष आप्त है।

यह लक्षण ऋषि, आर्य और म्लेच्छ, अर्थात् उत्तम विद्वान्, मध्यम साधारणजन तथा निकृष्ट अनपढ़ आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए समान है। कैसा भी व्यक्ति अपने सीमित विषय में विशेष जानकारी रखने के कारण साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' होता है। अपने विषय में उसका उपदेश-कथन शब्द-प्रमाण है। जगत् में सब प्रकार के व्यवहार इन्हीं प्रमाणों के आधार पर चलते हैं। न केवल विद्वानों व साधारण मनुष्यों में ही, अपितु पशु-पक्षियों में भी प्रमाणाधार-व्यवहार देखा जाता है। प्राणीमात्र में इन प्रवृत्तियों की उद्भावना सम्भव है ॥ ७ ॥

शब्दप्रमाण के भेद—शब्दप्रमाण-लक्षण के अनन्तर सूत्रकार ने शब्दप्रमाण के भेद का निर्देश किया—

स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

[सः] वह (प्रमाणभूत शब्द) [द्विविधः] दो प्रकार का है, [दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात्] दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होने से।

दृष्टार्थ शब्द—शब्दप्रमाण से जाने गए जिस अर्थ को इसी देह के साथ रहते, अथवा इसी जीवन में जानाजासके, वह 'दृष्टार्थ' शब्द-प्रमाण है। इसका तात्पर्य है—शब्दप्रमाण से जानेगये जिस अर्थ को प्रत्यक्ष प्रमाण से भी जानाजासके, वह दृष्टार्थ है; जैसे—किसी व्यक्ति ने किसी अन्य को कहा—वहाँ नदी-किनारे पेड़ पर पाँच फल लगे हैं। वक्ता पुरुष आप्त है, उसने फलों को पेड़ पर लगा देखा है। जब श्रोता पुरुष नदी-तट पर जाता है, यदि किसी ने इस बीच उन फलों को नहीं तोड़ा, तो वह उनको वहाँ देखता, व प्राप्त कर लेता है। वक्ता पुरुष का वैसा कथन दृष्टार्थ शब्दप्रमाण है। लोक में ऐसे व्यवहार की प्रचुरता है। व्यवहार का कोई विभाग ऐसा नहीं, जहाँ शब्दप्रमाण के इस आधार के बिना अभिलषित कार्य को अनुकूलता के साथ सम्पन्न कियाजासके।

अदृष्टार्थ शब्द—अन्य प्रमाण के बिना जो अर्थ केवल शब्दप्रमाण से जानाजाय, वह 'अदृष्टार्थ' शब्दप्रमाण कहाजाता है। यह शब्दप्रमाण का विभाग वस्तुतः वैदिक वाक्य और लौकिक वाक्य के आधार पर है। इस रूप में लौकिक वाक्य को 'दृष्टार्थ' और वैदिक वाक्य को 'अदृष्टार्थ' समझना चाहिए। जैसे—वैदिक वाङ्मय का विधिवाक्य है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अथवा 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'। इन वाक्यों से बोधित अर्थ—स्वर्ग की प्राप्ति अथवा स्वर्ग के प्रशासन की प्राप्ति—उस जीवन में सम्भव नहीं, जिसमें अग्निहोत्र अथवा वाजपेय का अनुष्ठान कियाजाता है। अनुष्ठान-जीवन में स्वर्ग या स्वाराज्य का प्रत्यक्ष न होने से यह वैदिक वाक्य 'अदृष्टार्थ' है।

यदि इस विभाग को न दिखाकर केवल एकरूप में शब्द को प्रमाण कहदियाजाता, तो साधारण लौकिक पुरुष—दृष्टार्थ होने से—लौकिक वाक्य पर विश्वास करता, केवल उसीको शब्दप्रमाण के रूप में स्वीकारता। सूत्रकार ने इस विभाग का यह प्रयोजन स्पष्ट किया कि केवल दृष्टार्थ वाक्य प्रमाण न होकर, अदृष्टार्थ वाक्य को भी प्रमाण मानाजाना चाहिए। जैसे लौकिकवाक्य-बोधित अर्थ को प्रत्यक्ष द्वारा जानाजासकता है, वैसे वैदिक्यवाक्यबोधित अर्थ को अनुमान द्वारा जानने का प्रयत्न कियाजासकता है ॥ ८ ॥

प्रमेय, द्वितीय पदार्थ—प्रमाणों के लक्षण और उपर्युक्त विभाग-निर्देश के अनन्तर सूत्रकार इन प्रमाणों से बोध्य अर्थ का प्रमेयरूप में निर्देश करता है—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-
फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

[आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः] आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (ये बारह) [तु] तो [प्रमेयम्] प्रमेय हैं।

निर्दिष्ट बारह प्रमेयों में मुख्य केवल आत्मा है। साधारणरूप से प्रत्येक पदार्थ प्रमेय होता है; प्रमा अर्थात् ज्ञान का विषय। परन्तु यहाँ अपवर्ग-प्राप्ति के प्रसंग में आत्मा का स्थान सर्वोपरि है; आत्मज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति सम्भव है। शरीर आदि ग्यारह प्रमेय सब आत्मसम्बन्धी पदार्थ हैं। आत्मा आदि समस्त प्रमेयों का विवरण स्वयं सूत्रकार ने आगे दिया है; संक्षेप में इसप्रकार समझना चाहिए।

आत्मा—चेतन तत्त्व सबका द्रष्टा व भोक्ता है। सब इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य समस्त विषयों के जाननेवाला है, क्योंकि वही सब विषयों का अनुभव करता है। इसी आधार पर आत्मा को कभी 'सर्वज्ञ' कहदियाजाता है।

शरीर—उसी आत्मा के भोगों का आधार है। तात्पर्य है, आत्मा इस स्थूल पार्थिव आदि शरीर में रहने पर सुख-दुःख आदि को भोगपाता है। यदि शरीर के बिना आत्मा को भोग प्राप्त होजाया करता, तो शरीर का होना, अर्थात् आत्मा का शरीर में भोगप्राप्ति के लिए आना निष्प्रयोजन था।

इन्द्रिय—आत्मा के भोग के लिए साधन हैं। इन्द्रिय पाँच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र। ये बाह्य इन्द्रिय कहलाते हैं।

अर्थ—आत्मा के भोक्तव्य विषय हैं। ये पाँच हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। ये यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों से ग्राह्य होकर आत्मा के भोग का विषय बनते हैं।

बुद्धि—वह भोग है, जो गन्धादि अर्थों-विषयों का आत्मा को अनुभव होता है।

मन—आन्तर इन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रिय केवल एक नियत अर्थ का ग्राहक होता है, परन्तु आन्तर इन्द्रिय मन प्रत्येक विषय के ग्रहण में साधन है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होगा, उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण आत्मा करेगा। यदि मन इस अन्तराल में सक्रिय न रहे, तो प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषय के साथ उपस्थित होने पर एक समय में सब विषयों का ज्ञान होता रहना चाहिए, जो अव्यवहार्य व अनिष्ट है।

प्रवृत्ति और **दोष** वे हैं, जो शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, अर्थबोध, सुख, दुःख आदि की उत्पत्ति के कारण हैं। शरीर आदि की उत्पत्ति के मूल प्रवृत्ति और दोष हैं।

प्रेत्यभाव—मरकर होना, एक देह को त्यागकर देहान्तर का ग्रहण करना। आत्मा जिस शरीर में विद्यमान है, उससे पूर्व आत्मा किसी अन्य शरीर में नहीं रहा, अर्थात् उसका यह शरीर अपूर्व है, ऐसा नहीं है। न ऐसा है कि इस शरीर के छूट जाने पर आगे अन्य शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो; अर्थात् यह शरीर अनुत्तर भी नहीं है। यह आत्मा के देह-ग्रहण का अनुक्रम अनादि काल से निरन्तर प्रवाहित है। इस प्रवाह के नैरन्तर्य का अवसान अपवर्ग-दशा में होता है। देह-ग्रहण का निरन्तर प्रवाह—प्रेत्यभाव है।

फल—वह उपभोग है, जो साधनों द्वारा सुख, दुःख आदि के रूप में आत्मा को प्राप्त होता है।

दुःख—वस्तुतः सुख का न होना, नहीं है; प्रत्युत सुख-साधनों के साथ जीवन प्राप्त करने—अर्थात् देहधारण करने—के क्षण से ही दुःख इसके साथ लगा रहता है। सुख के क्षणों में भी दुःख इसका पीछा नहीं छोड़ते। सुख के अत्यल्प क्षणों की प्राप्ति के लिए अनेक कष्टों व बाधाओं का सामुख्य करना पड़ता है। सुख का कोई क्षण दुःखों से घिरा न हो, यह सम्भव नहीं। यह स्थिति विवेकी व्यक्ति को इस पर ध्यान देने की ओर प्रेरित करती है।

अपवर्ग—इसप्रकार सुख-दुःख की परिस्थितियों का एकाग्र मन से चिन्तन करता हुआ व्यक्ति उस दुःखसमूह से छूटने के लिए उद्विग्न होउठता है। यह उद्वेग उसे दुःखबहुल सुख-साधनों की ओर से खिन्न करदेता है। तब वह राग-द्वेषादि से रहित होकर अपवर्ग के पथ का पथिक बनजाता है। यह अपवर्ग जन्म-मरणप्रवाह के नैरन्तर्य का उच्छेद करदेता है। अपवर्गदशा में सबप्रकार के दुःखों का अभाव रहता है।

'आत्मा' आदि ही प्रमेय क्यों ?

यद्यपि 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय' नाम के—वैशेषिकप्रसिद्ध तथा प्रस्तुत शास्त्र के अभिमत-अन्य प्रमेय भी हैं; और उनके

अवान्तर भेदों से वे अपरिसंख्येय हैं; परन्तु यहाँ केवल आत्मा आदि का विशेष उपदेश इसीकारण कियागया है कि आत्मा आदि के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग और मिथ्याज्ञान से संसार होता है; इसे यथायथ समझलियाजाय। वस्तुतः प्रस्तुत शास्त्र में 'आत्मा' आदि बारह के लिए 'प्रमेय' पद का प्रयोग पारिभाषिक-सा है। वैसे द्रव्यादि प्रमेयों में यहाँ पठित आत्मा आदि सबका समावेश है॥ ९॥

आत्मा के लिंग—आत्मा आदि प्रमेयों में आत्मा का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। तब क्या केवल आप्तोपदेश से उसका अस्तित्व स्वीकार करलेना चाहिए? शिष्य की इस जिज्ञासा पर सूत्रकार ने अनुमानप्रमाण द्वारा उसकी प्रतिपत्ति के लिए निर्देश किया—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्॥ १०॥

[इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि] इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान, [आत्मनः] आत्मा के [लिङ्गम्] चिह्न हैं, (परिचायक हैं)।

सार्वजनिक व्यवहार में यह देखाजाता है कि जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ के सम्बन्ध से सुख का अनुभव करता है, तो वैसे पदार्थ को पुनः देखकर वह उसको लेना चाहता है। जैसे—एक व्यक्ति ने मीठा आम चूसा, सुख का अनुभव किया। कालान्तर में वैसा आम देखकर उस व्यक्ति को उसे लेने की इच्छा होती है। यदि—पहले का रसास्वाद और अनन्तर का आम्रदर्शन—इन दोनों विषयों के पीछे दोनों का ग्रहण करनेवाला एक आत्मा न हो, तो जैसे देवदत्त के गृहीत विषय का यज्ञदत्त प्रतिसन्धान नहीं करसकता, ऐसे ही रसन इन्द्रिय से गृहीत रस का—आम को देखकर—चक्षु द्वारा प्रतिसन्धान सम्भव नहीं। दोनों इन्द्रिय नियतविषय हैं। रसन रस का, तथा चक्षु रूप का और रूपवाले द्रव्य का ग्राहक है। ये एक-दूसरे के विषय को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। ठीक ऐसे ही, जैसे चैत्र के द्वारा अनुभूत अर्थ का मैत्र को स्मरण नहीं होसकता। परन्तु चालू प्रसंग में रसन-इन्द्रिय से गृहीत रस का—चक्षु द्वारा वैसे आम्रफल को देखकर—स्मरण हो आता है, और उस फल को लेने की इच्छा होती है। इसका तात्पर्य है—चक्षु द्वारा फल को देखकर उसे लेने की इच्छा उसीको होती है, जिसने वैसे फल का प्रथम रसास्वाद ग्रहण किया होता है। इससे इन दोनों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करनेवाला, इन दोनों इन्द्रियों से अतिरिक्त जो तत्त्व है, वह आत्मा है। इस रूप में 'इच्छा' का होना आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

ऐसे ही जिस पदार्थ के सम्पर्क से किसी व्यक्ति ने दुःख पाया है, वैसे पदार्थ को जब वह व्यक्ति पुनः देखता है, तो उसके प्रति द्वेष की भावना अभिव्यक्त होजाती है; वह उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है। यह सब—अनेक अर्थों के

द्रष्टा एक आत्मतत्त्व को स्वीकार किये विना—सम्भव नहीं। उदाहरण की प्रक्रिया पहले के समान समझलेनी चाहिए। इसप्रकार अनुभूत दुःखहेतु पदार्थ के प्रति द्वेष का उद्‌भव होना—इन्द्रियादि से अतिरिक्त—आत्मतत्त्व का साधक है।

अनुभूत सुखसाधन पदार्थों को देखकर व्यक्ति उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। ऐसा प्रयत्न अनेक विषयों के द्रष्टा एवं प्रतिसन्धाता—एक तत्त्व के स्वीकार किए विना सम्भव नहीं। विभिन्न इन्द्रियाँ अपने नियत एक-एक विषय के ग्रहण कराने में सहयोगी होसकती हैं। स्वयं इन्द्रियों को द्रष्टा मानेजाने पर—एक देह में हुए ज्ञानका अन्य देह से प्रतिसन्धान न होने के समान—एक इन्द्रिय के ज्ञात विषय का अन्य इन्द्रिय द्वारा प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं। अतः यह प्रयत्न अनेक विषयों के द्रष्टा एक आत्मतत्त्व के अस्तित्व को देह में सिद्ध करता है।

सुखसाधन पदार्थों के आदान में प्रयत्न के समान, दुःखसाधन पदार्थों के परित्याग में प्रयत्न भी आत्मा का साधक है।

अनुभूत सुख और दुःख के स्मरण से जब व्यक्ति सुख-दुःखसाधनों को प्रयत्नपूवक जुटा लेता है, तब उनके उपभोग से सुख-दुःख को प्राप्त करता है। उदाहरण-प्रक्रिया पहले के समान समझलेनी चाहिए।

जब किसी विषय में व्यक्ति की जिज्ञासा होती है, तब उस विषय की विभिन्न कोटियों [कॉर्नरों—Corners=पहलुओं] के आधार पर वह विचार करता है, तथा विभिन्न सन्देह-कोटियों को पारकर जानलेता है यह अमुक वस्तु है। वस्तु का ऐसा ज्ञान प्रथम हुई जानने की इच्छा और विभिन्नकोटिक विचार करनेवाले—किसी एक द्रष्टा व कर्त्ता के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

इच्छा आदि आत्मा के विशेष गुण—इसप्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, ये गुण—देहादि से अतिरिक्त—आत्मा के साधक हैं। इसका तात्पर्य है, इच्छा आदि गुण आत्मा के विशेषगुण हैं। प्रत्येक विशेषगुण अपने आधार [समवायी] द्रव्य का लक्षण होता है। जैसे पृथिवी का विशेषगुण गन्ध पृथिवी का लक्षण-ज्ञापक-बोधक-लिङ्ग होता है। इच्छा आदि को आत्मा का लिङ्ग बताकर सूत्रकार ने 'इच्छा आदि का समवायिकारण आत्मा है' यह आत्मा का लक्षण स्पष्ट किया है।

इच्छा आदि गुणों से भिन्न आत्मा—जो विचारक देहादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे भी यह निर्विवाद मानते हैं कि एक देवदत्त-देह में अनुभूत किसी नियत विषय का—अन्य यज्ञदत्त-देह द्वारा—स्मरण व प्रतिसन्धान नहीं होसकता। जैसे भिन्न देहों में अनुभूत नियत विषय का परस्पर एक-दूसरे के द्वारा स्मरण या प्रतिसन्धान नहीं हो सकता, ऐसे ही एक देह में भिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय का एक-दूसरे के द्वारा स्मरण व

प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं; क्योंकि दोनों जगह स्थिति समान है। इसका परिणाम होता है—अपने देखे का स्मरण या प्रतिसन्धान होता है, अन्य के देखे का नहीं; तथा उस विषय का स्मरण या प्रतिसन्धान नहीं होता, जिसको कभी जाना नहीं। जैसे एक व्यक्ति के विषय में यह स्थिति कहीजाती है, वैसे ही समस्त व्यक्तियों के विषय में समझनी चाहिये। अनात्मवादी इन दोनों अवांछित परिस्थितियों [अन्यदृष्ट तथा अदृष्ट दोनों] के समाधान की व्यवस्था करने में अक्षम रहता है। फलतः देह-इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥१०॥

'शरीर' का लक्षण—आत्मा के भोग के अधिष्ठान क्रमप्राप्त शरीर का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

[चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः] चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय [शरीरम्] शरीर कहाजाता है।

सूत्र के 'आश्रय' पद का सम्बन्ध चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ तीनों के साथ है। चेष्टा का आश्रय शरीर है। चेष्टा उस क्रिया व हरकत का नाम है, जो ज्ञान, इच्छा व प्रयत्नपूर्वक होती है। व्यक्ति इस बात को जानता है, कि अमुक वस्तु मेरे लिए सुखद व अमुक दुःखप्रद है। वह सुखद वस्तु को ग्रहण करने और दुःखप्रद को छोड़ने की इच्छा करता है। इसप्रकार से प्रेरित प्रयत्न होने पर जो वस्तु के आदान व परित्याग के लिए क्रिया होती है, उसका आधार 'शरीर' है। आत्मा शरीर में अधिष्ठित है, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आत्मा के गुण हैं। इनके उभरने पर शरीर में जो क्रिया या हरकत होती है, उसका आश्रय 'शरीर' है।

चेष्टाश्रय—जब शरीर आत्मा से अधिष्ठित रहता है, तभी चेष्टा का होना सम्भव है। आत्मा से अनधिष्ठित देह-मृत देह आदि में, तथा जहाँ कभी आत्मा अधिष्ठित नहीं रहता, ऐसे साधारण जड़ पदार्थों में जो क्रिया होती है, उसका नाम 'चेष्टा' नहीं; वह केवल क्रिया है। वायु चलता है, पानी बहता है, लोक-लोकान्तर भ्रमण करते हैं, वायु-प्रेरित तृण, धूलिकण आदि उड़जाते हैं, मृत देह में परिवर्त्तन होते रहते हैं; यह सब क्रियामात्र है, 'चेष्टा' नहीं। चेष्टा का अस्तित्व आत्मा से अधिष्ठित शरीर में सम्भव होता है; इसी आधार पर शरीर का लक्षण 'चेष्टाश्रय' कहागया। इसीलिए शरीर में प्राण आदि की क्रिया को चेष्टा नहीं मानाजाता, क्योंकि इसमें ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नपूर्वकता नहीं है।

'इन्द्रियाश्रय'—शरीर का अन्य लक्षण है। इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति, शरीर-आधार के विना सम्भव नहीं। वैसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय इन्द्रियाँ—

शरीरसम्बन्ध न होने पर भी—सदा आत्मा के साथ रहती हैं; परन्तु उनकी कार्यक्षमता—भोगसाधनता शरीर में विद्यमान होने पर सम्भव होती है। यदि शरीर-आधार के बिना इन्द्रियाँ अपने कार्य में सक्षम होतीं, अर्थात् आत्मा के लिए भोग को सम्पन्न करसकतीं, तो फिर शरीर की अपेक्षा न रहती। कोई आत्मा भोगदशा को अशरीर रहता हुआ प्राप्त नहीं करसकता; सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रमि-कीट आदि के भी स्वतन्त्र शरीर रहते हैं; चाहे उन्हें शक्तिशाली सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्रों के सहयोग से भी न देखाजासके। क्योंकि इन्द्रियों की भोगसाधनता शरीर में ही सार्थक-सफल होती है, इसी आधार पर शरीर का लक्षण 'इन्द्रियाश्रय' कहागया है।

'अर्थाश्रय' भी शरीर का एक अतिरिक्त लक्षण है। 'अर्थ' पद का तात्पर्य यहाँ सुख-दुःख आदि का उपभोग है। इन्द्रिय और विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न सुख-दुःख आदि का—जिस आयतन-आश्रय में—आत्मा को अनुभव होता है, वह शरीर है। यदि 'अर्थ' पद से सूत्र [१।१।१४] के अनुसार गन्ध, रस, रूप आदि इन्द्रियविषयों का यहाँ ग्रहण कियाजाय, तो भी भोग्य गन्धादि के सहयोग से होनेवाले सुख-दुःख आदि का अनुभव शरीर में सम्भव होने से पहले के समान ही तात्पर्य आता है। इस शास्त्र में 'भोग' पद का अभिप्राय वैषयिक सुख-दुःख आदि का प्राप्त होना है, जो शरीर में सम्भव मानागया है। इसीके अनुसार 'चेष्टा आदि का आश्रय' शरीरलक्षण सम्पन्न होता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाँ-घ्राण आदि—क्रमप्राप्त भोगसाधन इन्द्रियों के विषय में सूत्रकार ने बताया—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

[घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि] घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये [इन्द्रियाणि] इन्द्रिय हैं, जो [भूतेभ्यः] भूतों से (उत्पन्न व सम्बद्ध हैं)।

सूत्रकार ने सूत्र में घ्राण आदि इन्द्रियों का केवल नाम-निर्देश किया है, लक्षण नहीं बताया, जो प्रसङ्गानुसार बताना चाहिये था। वस्तुतः इस नाम-निर्देश में उस-उस इन्द्रिय का लक्षण अन्तर्निहित है। यह बात प्रत्येक इन्द्रिय-नाम के निर्वचन द्वारा स्पष्ट होजाती है।

'घ्राण' इन्द्रिय—'घ्राण' पद का निर्वचन है—'जिघ्रति अनेन इति घ्राणम्'—जिससे सूँघता है, अर्थात् गन्ध को ग्रहण करने का साधन। इससे घ्राण का लक्षण हुआ—'गन्धग्राहकं यदिन्द्रियं तद् घ्राणम्'। गन्धको ग्रहण करनेवाला जो इन्द्रिय है, वह घ्राण है। यहाँ 'ग्राहकता' से ग्रहणकर्त्ता होने में तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत—इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होनेपर उसके [अर्थ के] ग्रहण—ज्ञान

होने में सहयोग की क्षमता अभिप्रेत है। घ्राण, गन्ध-ग्रहण अर्थात् गन्ध-ज्ञान का कर्त्ता नहीं है, केवल गन्ध-ज्ञान होने में सहयोग की क्षमता रखता है; यही उसमें गन्धग्राहकता का स्वरूप है।

जैसे घ्राण-इन्द्रिय का गन्ध-अर्थ से सन्निकर्ष होता है, ऐसे चक्षु-इन्द्रिय का गन्ध के साथ सन्निकर्ष सम्भव है, इसमें कोई बाधा नहीं; परन्तु चक्षु-इन्द्रिय में गन्ध-ज्ञान होने के लिए सहयोग की क्षमता नहीं है; इसलिए चक्षु-इन्द्रिय का उससे सन्निकर्ष होने पर भी वह [चक्षु] गन्ध-ग्राहक नहीं होसकता। अपने ग्राह्यविषय के प्रति यह विशेषता प्रत्येक इन्द्रिय में समानरूप से समझनीचाहिये।

'रसन' इन्द्रिय—**'रसन'** इन्द्रिय का लक्षण पहले के समान उसके नाम-निर्वचन से स्पष्ट होजाता है—'रसयति अनेन इति रसनम्।' चखता है जिससे, वह रसन है। तात्पर्य हुआ—'रसग्राहकमिन्द्रियं रसनम्।' इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर जो इन्द्रिय रस-ज्ञान में साधन होता है, वह 'रसन' है।

'चक्षु' इन्द्रिय—**'चक्षु'** इन्द्रिय का लक्षण भी उस नाम-पद के निर्वचन से स्पष्ट होजाता है—'चष्टे अनेन इति चक्षुः'। देखता है जिसके द्वारा, वह इन्द्रिय चक्षु है। यह पद 'चक्षिङ्' [अदादिगण] धातु से 'उस्' [उणा० २। ११६] प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। अदादिगणी यह धातु 'व्यक्तवाणी' और 'देखने' अर्थ में पठित है। तात्पर्य हुआ—रूप के देखने का जो इन्द्रिय साधन है, वह 'चक्षु' है—'रूपग्राहकमिन्द्रियं चक्षुः'।

'त्वक्' इन्द्रिय—**'त्वक्'** इन्द्रिय-नाम के निर्वचन में अन्यों से कुछ अन्तर है। 'त्वक्' पद तुदादिगणी 'त्वच संवरणे' धातु से क्विप् [पा० ३। २। १७८] प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। 'संवरण' का अर्थ है—अच्छी तरह ढकलेना। इस पद की निष्पत्ति तनादिगणी 'तनु विस्तारे' धातु से 'तनोतेरनश्च वः' [२। ६३] इस उणादि सूत्र द्वारा निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार भी मानीजाती है। 'तन्' धातु के 'अन्' भाग को 'व' आदेश होकर 'चिक्' प्रत्यय का 'च्' अंश रहकर 'त्वक्' पद बनता है। इस धात्वर्थ के अनुसार 'त्वक्' का अर्थ होता है—फैला हुआ। निर्वचन के दोनों प्रकारों में तात्पर्य समान है—समस्त देह को ढकनेवाले अथवा सारे देह पर फैले हुए चर्म [चमड़े] का नाम 'त्वक्' है। इसी आधार पर पेड़ की छाल को भी 'त्वक्' कहाजाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'त्वक्' एक इन्द्रिय का नाम इस आधार पर है कि उसका स्थान त्वक् अर्थात् देहावरण चर्म है। त्वक् में उसका स्थान होने से औपचारिक रूप में इन्द्रिय का नाम भी त्वक् कहदियाजाता है। जैसे शरीर में घ्राण का स्थान नासिका का अग्रभाग, रसन का स्थान जिह्वा का अग्रभाग, चक्षु का स्थान नेत्रगोलक का मध्यभाग समझाजाता है, ऐसे ही त्वक्-इन्द्रिय का स्थान समस्त-शरीरवर्त्ती त्वक् [चर्म] है।

इसके अतिरिक्त त्वक्-इन्द्रिय का अन्य नाम 'स्पर्शन' है। यह पद तुदादि-गणी 'स्पृश संस्पर्शने' धातु से करण कारक में ल्युट् [पा० ३। ३। ११७] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'स्पृशति अनेन इति स्पर्शनम्'—छूता है जिस इन्द्रिय के द्वारा, वह 'स्पर्शन' है। तात्पर्य हुआ—'स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं स्पर्शनम्'। स्पर्श गुण का ग्राहक इन्द्रिय 'स्पर्शन' है।

'श्रोत्र' इन्द्रिय-'श्रोत्र' पद भ्वादिगणी 'श्रु श्रवणे' धातु से उणादि 'ष्ट्रन्' [४। १५९] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'शृणोति अनेन इति श्रोत्रम्'—सुनता है जिसके द्वारा, वह इन्द्रिय श्रोत्र है। शब्द सुनाजाता है, इसलिए—'शब्दग्राहकमिन्द्रियं श्रोत्रम्' यह लक्षण श्रोत्र का स्पष्ट हुआ।

इस सबका तात्पर्य हुआ—अपने-अपने विषय को ग्रहण करना—प्रत्येक इन्द्रिय का लक्षण है। अर्थात् अपने कार्य के आधार पर उस-उस इन्द्रिय को पहचानलियाजाता है।

इन्द्रियों की रचना भूतों से—'भूतेभ्यः' पद यह प्रकट करता है कि इन्द्रियों की रचना भूतों से होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि सब भूत मिलकर प्रत्येक इन्द्रिय को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के उपादानकारण पाँचों भूत हैं; प्रत्युत प्रत्येक इन्द्रिय भिन्न-भिन्न भूत से उत्पन्न होती है। नाना इन्द्रियों के नाना भूत उपादान-कारण हैं। सब इन्द्रियों का एक उपादान-कारण नहीं है। इसीके अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय के ग्रहण कियेजाने में साधन होता है।

घ्राण इन्द्रिय का उपादानकारण पृथिवी-तत्त्व है; अतः घ्राण पृथिवी के विशेषगुण केवल गन्ध का ग्राहक होता है। इसीप्रकार जलीय इन्द्रिय रसन रस-गुण का, तैजस इन्द्रिय चक्षु रूप का और वायवीय इन्द्रिय त्वक् केवल स्पर्श का ग्रहण करता है।

'श्रोत्र' आकाशस्वरूप—पाँचवाँ इन्द्रिय 'श्रोत्र' उत्पन्न नहीं मानाजाता। समस्त कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में मूल उपादानकारण—पृथिवी आदि के चार प्रकार के—परमाणु होते हैं। आकाश नामक भूत व्यापक अथवा अमूर्त्त द्रव्य होने से किसी कार्य-द्रव्य का उपादानकारण नहीं होसकता। अतः द्रव्य श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न मानाजाकर 'आकाश-स्वरूप' स्वीकार कियागया है। इसीकारण सूत्र के 'भूतेभ्यः' पद का अर्थ करते हुए कोष्ठक में 'सम्बद्ध' पद दियागया है। तात्पर्य है—पृथिवी आदि से घ्राण आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति के समान, श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होकर केवल सम्बद्ध है। सम्बन्ध 'स्वरूप' ही है। तात्पर्य हुआ—श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशस्वरूप है॥ १२॥

'भूत' पृथिवी आदि—गत सूत्र में इन्द्रियों के उपादानकारण कहे गये भूत कौन-से हैं? सूत्रकार ने बताया—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

[पृथिवी] पृथिवी [आपः] जल [तेजः] आग [वायुः] वायु [आकाशम्] आकाश [इति] ये [भूतानि] भूत हैं।

दार्शनिक क्षेत्र में पृथिवी आदि पाँच पदार्थों का पारिभाषिक नाम 'भूत' है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार सर्वत्र दर्शनों में उक्त पद से इन्हीं पाँच का ग्रहण होता है, दर्शनों के अतिरिक्त अन्य समस्त संस्कृत-वाङ्मय में इस परिभाषा को स्वीकार कियागया है।

सूत्र में भूतों के वाचक 'पृथिवी' आदि पद पृथक्-पृथक् पढ़े हैं। सूत्र की रचना— इन पदों का परस्पर समास करके होसकती थी, परन्तु ऐसा न कर सूत्रकार ने प्रत्येक संज्ञा शब्द को एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्ररूप से पढ़ा है। सूत्रकार इससे यह अभिव्यक्त करना चाहता है—गतसूत्र में 'भूतेभ्यः' पद से जो निर्देश किया गया है, कि घ्राण आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति भूतों से होती है; उतने से यह निश्चय नहीं होपाता कि कौन-सी इन्द्रिय की उत्पत्ति किस भूत से होती है। उसमें यह सन्देह होसकता है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति सब भूतों से मिलकर होती हो, अथवा किसी इन्द्रिय की उत्पत्ति एकाधिक भूत से होती हो। इन सन्देहों की व्यावृत्ति और निश्चित अभिव्यक्ति की भावना से सूत्रकार ने 'पृथिवी' आदि वाचक पदों को पृथक् पढ़ा है।

तात्पर्य है, भूतसंज्ञक पृथिवी आदि पाँच तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र हैं। इनकी रचना में परस्पर इनका कोई सम्मिश्रण नहीं होता। इससे गत सूत्र में पठित घ्राण आदि इन्द्रियों के यथाक्रम पृथिवी आदि भूत कारण हैं; यह निश्चित होजाता है। घ्राण का कारण पृथिवी, रसन का कारण जल, चक्षु का कारण तेज, त्वगिन्द्रिय का कारण वायु है। वाचक पदों के पृथक् पाठ से आकाशीय श्रोत्र-इन्द्रिय की भिन्न स्थिति का भी निर्देश सम्भव है। घ्राण आदि इन्द्रियाँ पृथिवी आदि से उत्पन्न होती हैं, परन्तु श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होकर आकाशस्वरूप है।

पृथिवी आदि के पृथक् एवं स्वतन्त्र पाठ में सूत्रकार का यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त होता है कि इन भूतों की रचना एक-दूसरे से मिलकर नहीं होती, प्रत्युत अपने-अपने उपादान-तत्त्वों से स्वतन्त्ररूप में होती है। इससे समस्त भूतों में पञ्चीकरण तथा आंशिक सम्मिश्रण के समस्त कथन निराधार व असंगत समझने चाहियें। ॥ १३ ॥

'अर्थ' गन्ध आदि गुण—घ्राण आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय ये हैं—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

[गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः] गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, यथाक्रम [पृथिव्यादिगुणाः] पृथिवी आदि के गुण हैं, और [तदर्थाः] उन घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं।

गन्ध, पृथिवी का गुण है। वह दो प्रकार का है—सुरभि और असुरभि। पार्थिव वस्तुभेद से इनके अनेक अवान्तर भेद सम्भव हैं।

रस, जल और पृथिवी दोनों में रहता है। जल में केवल मधुर रस, और पृथिवी में छह प्रकार का है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त। पार्थिव अंशों के सम्मिश्रण से अनेकत्र जल में भी अन्य खारी, कसैला आदि गुणों की प्रतीति होती है। वस्तुतः वह पार्थिव अंशों के गुणों का जल में प्रतीत होना भ्रम ही समझना चाहिये।

रूप गुण, तेज-जल-पृथिवी तीनों में रहता है। तेज में केवल भास्वर शुक्ल रूप है। जल में अभास्वर शुक्ल, तथा पृथिवी में रूप सात प्रकार का मानाजाता है—श्वेत, रक्त, नील, पीत, हरित, कपिश, चित्र। विभिन्न सम्मिश्रणों से इनके अनेक अवान्तर भेद सम्भव हैं।

स्पर्श गुण, वायु-तेज-जल-पृथिवी चारों में रहता है। वायु में केवल अनुष्णा-शीत-मृदु स्पर्श का अनुभव होता है। तेज में उष्णस्पर्श, जल में शीतस्पर्श तथा पृथिवी में अनुष्णाशीत-कठिन स्पर्श रहता है।

शब्द, केवल आकाश का गुण है। यह वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक दो प्रकार का है। पहला मानव-समाज द्वारा उच्चरित, शेष सब दूसरे प्रकार में आता है।[1]

गन्ध आदि गुण यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं। सूत्र के 'अर्थ' पद का अर्थ 'विषय' है। तात्पर्य है, गन्ध आदि गुणों के ग्रहण करने में यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियाँ साधन होते हैं। गन्ध-ज्ञान में साधन घ्राण है, रस-ज्ञान में रसन, रूप-ज्ञान में चक्षु, स्पर्श-ज्ञान में त्वक् तथा शब्द-ज्ञान में श्रोत्र ॥ १४ ॥

'बुद्धि' प्रमेय—आत्मा आदि चार प्रमेयों के विषय में कहकर सूत्रकार 'बुद्धि' प्रमेय के विषय में निर्देश करता है—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

[बुद्धिः, उपलब्धिः, ज्ञानम्] बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान, [इति] ये तीनों पद [अनर्थान्तरम्] एक ही अर्थ के वाचक हैं, विभिन्न अर्थों के नहीं।

---

१. **गुणों का यह उल्लेख समानशास्त्र वैशेषिक के अनुसार किया है। इनका विस्तृत विवेचन व विवरण हमारे 'वैशेषिकदर्शन-विद्योदयभाष्य' में देखा जासकता है।**

'बुद्धि' पद का निर्वचन दो प्रकार से होता है। एक—भाव अर्थ में क्तिन्' प्रत्यय द्वारा; दूसरा—करण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा। प्रस्तुत सूत्र में 'बुद्धि' पद भावार्थक क्तिन्-प्रत्ययान्त है—'बोधनं बुद्धिः'—जानना बुद्धि है। इस रूप में यह पद 'ज्ञान' का पर्यायवाचक होजाता है। 'उपलब्धि' पद भी ज्ञान का पर्याय है। इसप्रकार ये तीनों पद समान अर्थ के वाचक हैं। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष, तथा अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा आत्मा को जो विषय का 'बोध' होता है, वही बुद्धि, ज्ञान अथवा उपलब्धि है।

'बुद्धि' पद का निष्पादन अथवा निर्वचन जब करणार्थक 'क्तिन्'-प्रत्ययान्त होता है—'बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः'—जानाजाय जिससे, वह बुद्धि है; अर्थात् ज्ञान का साधन, तब 'बुद्धि' पद अन्तःकरण का वाचक होता है। दोनों अर्थों में पद की समान आकृति-भ्रम अथवा संशय की जनक सम्भव है; परन्तु पदों के निर्वचन की पद्धति भ्रम या संशय को टिकने नहीं देती।

अचेतन अन्तःकरण-बुद्धि का व्यापारमात्र है—ज्ञान। व्यापार साधनत्व-रूप है, बोद्धृत्वरूप नहीं। ज्ञान का बोद्धा तो चेतन आत्मा होता है। आत्मा बोद्धा के लिए बोध-ज्ञान का साधन होने से अन्तःकरण बुद्धि के चेतन होने की सम्भावना नहीं है। अन्यथा इन्द्रियादि पर भी यह आपत्ति आरोपित होगी। तब एक देह में अनेक चेतनों का भोक्ता-रूप से विद्यमान होना प्राप्त होगा, जो सर्वथा अनिष्ट है। इसलिए यह निश्चित सिद्धान्त है—देह, इन्द्रिय आदि के समूह या संघात से अतिरिक्त एकमात्र चेतन आत्मा शरीर में भोक्ता अवस्थित रहता है।

प्रमेयों में पठित क्रमप्राप्त बुद्धि का लक्षण सूत्रकार को यहाँ कहना चाहिये था, पर यह न कहकर केवल पर्याय पदों के निर्देशरूप उपपत्ति-युक्ति के द्वारा सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत प्रसंग में 'बुद्धि' पद से ज्ञान-विषयी का ग्रहण करना चाहिये, ज्ञानसाधन बुद्धि-करण का नहीं। इससे प्रमेयपठित 'बुद्धि' का स्वरूप स्पष्ट होजाता है॥ १५॥

'मन' प्रमेय का लिङ्ग—प्रमेयपठित क्रमप्राप्त 'मन' को पहचानने के लिए सूत्रकार ने उसके लिङ्ग-लक्षण का निर्देश किया—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ १६॥

[युगपत्] एक-साथ [ज्ञानानुत्पत्तिः] ज्ञानों की उत्पत्ति न होना [मनसः] मन का [लिङ्गम्] लिङ्ग-चिह्न-लक्षण है।

यद्यपि स्मृति, अनुमान, शब्दप्रमाण, संशय, प्रतिभा (अचानक किसी ज्ञान का उभर आना), स्वप्नज्ञान, ऊहा-तर्क, संकल्प आदि तथा सुख, दुःख, इच्छा आदि के होने में बाह्य घ्राण आदि इन्द्रियों का कोई व्यापार (उपयोग) नहीं

.ाता, तब स्मृति आदि के होने में कोई साधन अवश्य मानना चाहिये। ऐसा आन्तर साधन केवल 'मन' होसकता है। ये सब परिस्थितियाँ मन के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। तथापि मन की सिद्धि के लिए अबाधित सुगम साधन है— घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा एक-साथ अनेक ज्ञानों का न होना।

तात्पर्य है, ज्ञान आत्मा को होता है। बाह्य अर्थ गन्ध आदि को जानने के लिए साधन हैं—घ्राण आदि इन्द्रियाँ। इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होनेपर आत्मा को उस विषय का ज्ञान होजाता है। जिस समय एक इन्द्रिय का अपने ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष रहता है, उसी समय अन्य इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष सम्भव है। ऐसी दशा में प्रत्येक इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान एक समय में होजाना चाहिये। सब इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान एक-साथ होना अनुभव के विपरीत है। गन्धज्ञान के समय रूपज्ञान नहीं होता, रूपज्ञान के समय अन्य रस, स्पर्श आदि का ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध है, ऐसे ज्ञान के लिए इन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य कोई एक साधन है, जो ज्ञान के होने में सहयोगी है। एक समय में जिस इन्द्रिय के साथ उसका सान्निध्य रहता है, उस समय में उसी इन्द्रिय के विषय का आत्मा को ज्ञान होता है; जिनके साथ असान्निध्य है, उन इन्द्रियों के विषय का ज्ञान नहीं होता। वही सहयोगी साधन 'मन' है।

एक समय में एक इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होना सम्भव है, क्योंकि वह परिमाण की दृष्टि से अत्यन्त अणु है। उसका अनेक इन्द्रियों से एकसाथ संयोग होना सम्भव नहीं। अतः यदि ज्ञान के साधन इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अवसर पर मन-इन्द्रियसंयोग की उपेक्षा करदीजाय, तो एक काल में अनेक ज्ञान आत्मा को होते रहने चाहियें, जो नहीं होते। यह स्थिति 'मन' के अस्तित्व को सिद्ध करती है ॥ १६ ॥

'प्रवृत्ति' का लक्षण—प्रमेय पठित क्रमप्राप्त 'प्रवृत्ति' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ॥ १७ ॥

[प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति है [वाग्बुद्धिशरीरारम्भः] वाणी, बुद्धि, शरीर से कियागया आरम्भ—क्रिया।

प्रस्तुत सूत्र में 'बुद्धि' पद करणप्रत्ययान्त होने से 'मन' का वाचक है। इस प्रकार वाणी द्वारा, मन द्वारा तथा शरीर द्वारा की जानेवाली पाप-पुण्यरूप क्रियाओं का नाम 'प्रवृत्ति' है। जो कुछ हम वाणी, मन व शरीर द्वारा क्रिया चेष्टा आदि करते रहते हैं, वह सब प्रवृत्ति के अन्तर्गत आता है। ये क्रिया पापरूप या पुण्यरूप दोनों प्रकार की होती हैं, जिनमें दस प्रकार की पापरूप

तथा दस प्रकार की पुण्यरूप क्रियाओं का विवरण गत द्वितीय सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है ॥ १७ ॥

'दोष' का लक्षण—प्रमेयपठित क्रमप्राप्त 'दोष' का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः ॥ १८ ॥

[प्रवर्त्तनालक्षणाः] प्रवृत्ति के हेतु होना, जिनका लक्षण-स्वरूप है, ऐसे [दोषाः] दोष कहेजाते हैं।

'प्रवर्त्तना' पद का अर्थ है—प्रवृत्ति का हेतु। प्रवृत्ति का कारण होना, दोष का स्वरूप है। दोष वह है, जो प्रवृत्ति करानेवाला है। मानव प्राणी जो प्रवृत्ति करता है, वह सब राग, द्वेष और मोह से प्रेरित होता है। संसार में कोई ऐसी क्रिया नहीं, जिसकी जड़ में रागादि प्रेरक न हों। जबतक तत्त्व-ज्ञान—अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान—नहीं होजाता, ऐसे मिथ्याज्ञान की दशा में राग आदि उभरते हैं, और द्रष्टा आत्मा को पाप व पुण्य की ओर प्रवृत्त कराते रहते हैं। इसप्रकार साधारणरूप में राग-द्वेष-मोह को दोष समझना चाहिये।

जिज्ञासा—प्रत्येक व्यक्ति राग-द्वेष-मोह के रूप में दोषों को जानता है; इनको लक्षण द्वारा निर्देश करने की क्या आवश्यकता थी? 'रागद्वेषमोहा दोषाः' इस रूप में सूत्र कहदेना चाहिए था।

समाधान—कौन व्यक्ति राग, द्वेष अथवा मोह से अभिभूत है, यह उनके कर्मों से जानाजाता है। राग से अभिभूत व्यक्ति वैसे कर्म करता है, जिनसे वह सुख अथवा दुःख भोगता है। वे कर्म राग से अभिभूत होकर किये गये हैं, यह उन कर्मों के द्वारा पहचाना जाता है। इसीप्रकार द्वेष और मोह से अभिभूत होकर कियेगये कर्मों के विषय में समझना चाहिये। तात्पर्य है—राग, द्वेष आदि की पहचान कर्ममूलक है, इसीकारण सूत्रकार ने कर्म-क्रिया-प्रवृत्ति के हेतुरूप में इनका निर्देशन किया है। यदि केवल नाम लेकर 'राग' आदि दोष कहदिये-जाते, तो प्रवृत्ति और रागादि का कार्यकारणभाव अभिव्यक्त न होता, जिससे अपेक्षित बात कहने से रहजाती। वह कथन न्यून होता। अतः सूत्र का उक्तरूप में निर्देशन सर्वथा उपयुक्त व पूर्ण है ॥ १८ ॥

'प्रेत्यभाव' का लक्षण—क्रमप्राप्त प्रेत्यभाव प्रमेय का लक्षण कहा—

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

[पुनः] फिर [उत्पत्तिः] पैदा होना [प्रेत्यभावः] प्रेत्यभाव है।

स्वयं 'प्रेत्यभाव' पद में यह भाव छिपाहुआ है। इस पद के दो भाग हैं—'प्रेत्य' और 'भाव'। पहला पद 'प्र'-उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय

होकर निष्पन्न मानाजाता है। अर्थ है—प्रकृष्टरूप में यहाँ से जाकर। ऐसा जाकर, जो उसीरूप में फिर वापस न आवे; अर्थात् मरकर। दूसरे पद 'भावः' का अर्थ है—होना। तात्पर्य हुआ—मरकर फिर होना। एक शरीर को छोड़-कर आत्मा का दूसरे शरीर को धारण करना या ग्रहण करना। आत्मा की ऐसी स्थिति को 'प्रेत्यभाव' पद से कहाजाता है।

आत्मा जन्म-मरण के क्रम में बँधा हुआ है। जन्म-मरण आत्मा का क्या है? किसी एक शरीर का उपादान 'जन्म' और उसका परित्याग 'मरण' है। अथवा कहना चाहिये—आत्मा का एक शरीर के साथ संयोग जन्म, और उस शरीर के साथ वियोग होजाना मरण है। जिस शरीर से आत्मा का वियोग हुआ है, वही शरीर आत्मा को फिर कभी प्राप्त होना असम्भव है। इसीकारण 'प्रेत्य' पद के अर्थ में यह रहस्य अन्तर्हित है कि उस शरीर को प्रकृष्टता के साथ—दृढ़ता के साथ—इसप्रकार छोड़दियाजाता है कि फिर उसे पाजाना सम्भव नहीं। इसप्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर का उपादान 'प्रेत्य-भाव' है।

सूत्र में 'पुनः' पद का पाठ सूत्रकार ने इस अभिप्राय से किया है कि एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम लगातार चलता रहता है, इसका कोई आदि या अन्त नहीं है। अन्तराल में कभी लम्बे विश्राम का होना सम्भव है। अन्यथा यह क्रम अनादि-अनन्त समझना चाहिए। इसीको 'पुनर्जन्म' कहाजाता है—मरकर फिर जन्म होना। यह निरन्तर जन्म-मरण का सिल-सिला अपवर्ग मिलने पर निश्चित समय के लिए विश्राम पाजाता है। ऐसा प्रेत्यभाव विभिन्न योनियों में कर्मानुसार बराबर चला करता है, यह समझना चाहिये ॥ १६ ॥

'फल' प्रमेय का लक्षण—प्रमेयपठित क्रमप्राप्त फल का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

[प्रवृत्तिदोषजनितः] प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न हुआ, जो [अर्थः] अर्थ-भोग है, वह [फलम्] फल है, 'फल' पद से व्यवहृत होता है।

सत्रहवें और अठारहवें सूत्रों में यथाक्रम प्रवृत्ति और दोषों का स्वरूप बताया है। राग, द्वेष आदि दोष प्रवृत्ति के मूल हैं। रागादि से प्रेरित होकर प्रवृत्त हुआ व्यक्ति पुण्य-पापरूप कर्मों का अनुष्ठान कियाकरता है। उनके अनुसार उसे सुख-दुःखरूप भोग प्राप्त होता है; इसीका नाम 'फल' है। इस-प्रकार के कर्म और उनके फलस्वरूप सुख-दुःख आदि भोग, देह-इन्द्रिय-अर्थ और मन आदि के विद्यमान रहने पर हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में यह

निश्चित समझे रहना चाहिये— फलोपभोग केवल शरीर आदि के साथ सम्भव है। आत्मा को गन्ध-रूप-रस आदि विषयों के संसर्ग से प्राप्त सुख-दुःख आदि का भोग आत्मा की देहरहित अवस्था में सम्भव नहीं। जिन कर्मों का फल प्राप्त कर लिया, वह समाप्त होगया, पूरा होगया, छूटगया; जो अभी छूटा हुआ है, अर्थात् जिन कर्मों का फल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, वह अवसर आने पर प्राप्त होना है, वह उपादेय है। इसप्रकार कर्म-फलों के छूटते रहने और ग्रहण होते रहने का कहीं अवसान—अन्त—किनारा नहीं है। कर्मों के अनुष्ठान और फलों की प्राप्ति का यह अनुक्रम सर्वदा चला करता है। समस्त विश्व इसीपर परिचालित है; इस निर्बाध प्रवाह में संसार बहरहा है।

जिज्ञासा—दोष प्रवृत्ति का मूल है; और प्रवृत्ति से जनित अर्थ फल होता है; तब सूत्र में 'दोष' पद का पाठ व्यर्थ-सा लगता है; क्योंकि प्रवृत्ति होती ही दोषमूलक है, तब दोष स्वतः वहाँ उपस्थित होगा।

समाधान—सूत्रकार ने 'दोष' पद का सूत्र में पाठ इस भावना को अभिव्यक्त करने के लिए किया है कि दोष केवल प्रवृत्ति के कारण होकर भोग, आयु, जाति आदि के भी कारण होते हैं। दोषों की कारणता भोग आदि तक समझनी चाहिए। प्रवृत्तिजनन द्वारा दोष भोगादि को उत्पन्न किया करते हैं। भोग मुख्य फल है, शेष गौण हैं। देह-इन्द्रिय आदि की प्राप्ति फलरूप ही समझनी चाहिए। अतः सूत्ररचना साभिप्राय व निर्दोष है ॥ २० ॥

'दुःख' का स्वरूप—क्रमप्राप्त दुःख का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

[बाधनालक्षणम्] बाधनास्वरूप है [दुःखम्] दुःख।

बाधना, पीड़ा, ताप, दुःख, ये सब शब्द एक अर्थ को कहते हैं। वह अर्थ है—प्रतिकूल अनुभूति का होना। ये अनुभूतियाँ सांसारिक अथवा भौतिक पदार्थों के संसर्ग में आने पर हुआ करती हैं। यद्यपि वैषयिक अनुकूल अनुभूतियाँ भी भौतिक संसर्गों में होती हैं, परन्तु दुःख के हेयपक्ष में होने तथा संसार के दुःखबहुल होने से भौतिक संसर्ग में दुःख का निर्देश हुआ है। दुःखराशि से दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध होने के कारण सांसारिक भोगों तथा उनके साधनभूत भोग्य पदार्थों को विवेकी व्यक्ति दुःखरूप समझता हुआ उनकी ओर से खिन्न व विरक्त होजाता है। भौतिक भोग्य पदार्थों की ओर उसका राग-आकर्षण नहीं रहता। इसमें दुःखों से छूटने की भावना प्रबल होजाती है। इसप्रकार अध्यात्म-मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार होजाने पर मोक्ष को प्राप्त करलेता है, जो मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है ॥ २१ ॥

'अपवर्ग' का स्वरूप—जिस अवस्था में दुःखों का पूर्णरूप से अवसान होजाता है, उस अन्तिम प्रमेय अपवर्ग का सूत्रकार ने स्वरूप बताया—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

[तदत्यन्तविमोक्षः] उस दुःख से अत्यन्त छूट जाना [अपवर्गः] अपवर्ग है।

दुःखबहुल संसार में जो कभी सुख-कणिका उपलब्ध होती हैं, उनको भी दुःख की सीमा में समझलिया गया है। कारण यह है कि उस सुख-कण की उपलब्धि के लिए कष्टपूर्ण आयास करने पड़ते हैं। उन दुःखों को गौण कहागया है; सीधी प्रतिकूल अनुभूति मुख्य दुःख हैं। सूत्र में पठित 'तत्' सर्वनाम पद सबप्रकार के दुःखों का अतिदेश करता है। सांसारिक समस्त दुःखों का मोक्षदशा में अत्यन्त अवसान होजाता है। उस दशा में सांसारिक कष्ट की अत्यल्प मात्रा भी मुक्तात्मा को पीड़ित नहीं करती। दुःखों के अत्यन्त छूटजाने का यही तात्पर्य है।

सांसारिक दुःख की जड़ आत्मा का देहादि के साथ सम्बद्ध होना है, जिसे जन्म कहाजाता है। संसारदशा में यह जन्म-मरण का क्रम विना किसी बाधा के निरन्तर चलता रहता है। मोक्षदशा में जन्म-मरण का यह नैरन्तर्य बाधित होजाता है। आत्मसाक्षात्कार होजाने पर प्राप्त देहादि का यथासमय पतन होजाता है; आगे देहादि-प्राप्ति का नैरन्तर्य क्रम रुकजाता है। अपवर्ग के रहस्य को समझनेवाले तत्त्वज्ञानियों ने इसीकारण इस अवस्था को अन्तहीन बताया है, क्योंकि वह अन्त चिन्तन की सीमा से बाहर चलाजाता है। उस दशा में आत्मा को न कोई भय है, न बुढ़ापा और मौत; ये सब भौतिक संसर्ग में होते हैं। वहाँ केवल परब्रह्म परमात्मा आनन्दमय प्रभु के आनन्दमात्र का अनुभव आत्मा को हुआ करता है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने मोक्ष-विषयक एक विवेचन भाष्य में प्रस्तुत किया है- किन्हीं आचार्यों की यह मान्यता है कि परब्रह्म परमात्मा के समान जीवात्मा सर्वव्यापक—महान् तथा नित्य-सुखी—नित्यानन्दस्वरूप होता है। संसारी दशा में उसका नित्यसुख-स्वरूप तथा सर्वव्यापकता-महत्ता तिरोहित रहते हैं। मोक्षदशा में इनकी अभिव्यक्ति होजाती है, जिससे मुक्त दशा में आत्मा अत्यन्त सुखी रहता है। ऐसी मान्यता वेदान्त की किसी प्राचीन शाखा के अनुयायी आचार्यों की है।[१]

---

१. आचार्य शङ्कर ने जिस अद्वैत अथवा जीवात्मस्वरूप व ब्रह्मस्वरूप को उपपादित एवं पुष्ट किया है, उससे इस मान्यता में कुछ अन्तर है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है, कि भाष्यकार वात्स्यायन आचार्य शङ्कर से पूर्वकालिक है। भाष्यकार के समय मोक्षविषयक जो मान्यता किन्हीं वैदान्तिक आचार्यों की रही होगी, उसीका भाष्य में निर्देश सम्भव है।

भाष्यकार का कहना है कि इस मान्यता में प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द आदि कोई साधक प्रमाण न होने से यह सर्वथा अप्रामाणिक है। भाष्यकार का तर्क है—यदि मोक्ष में आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्ति-संवेदन-ज्ञान आत्मा को होता है, उससे पहले ज्ञान नहीं था, तो उस ज्ञान के होने का हेतु बताना चाहिए, वह ज्ञान उस दशा में किन कारणों से उत्पन्न होजाता है ?

यदि ज्ञान को सुख के समान नित्य कहाजाय, और उसकी उत्पत्ति के कारणों को बताने से बचाजाय, तो संसारी और मोक्ष-दशा में कोई विशेषता नहीं रहती। सुख नित्य है, और उसका ज्ञान भी नित्य है, तो आत्मा को सदा सुख का अनुभव होते रहना चाहिये, चाहे आत्मा संसारीदशा में है, या मोक्ष-अवस्था में। तब संसार और मोक्ष दोनों समान होजाते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना निरर्थक होगा कि मोक्ष में सुख की अभिव्यक्ति होजाती है; वह [अभिव्यक्ति-ज्ञान] तो नित्य है, उसके सदा बने रहने में कोई बाधा न होगी; तब किसी विशेष दशा में अभिव्यक्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके साथ यह अन्य आपत्ति है कि संसारीदशा में आत्मा को उसके किए कर्मों के अनुसार उसे वैषयिक सुख-दुःख होते रहते हैं। यदि मोक्षसुख और उसके ज्ञान को नित्य मानाजाता है, तो वैषयिक-सुख-दुःखों के साथ मोक्षसुख का अनुभव होते रहना चाहिये। तब संसार और मोक्ष दोनों का साथ-साथ चलना मानना होगा। मोक्ष व संसार का ऐसा यौगपद्य किसी प्रमाण से सिद्ध कियाजाना सम्भव नहीं है।

इस तर्क से बाधित होकर यदि मोक्ष में नित्यसुख के संवेदन-ज्ञान को अनित्य मानाजाता है, तो उसकी उत्पत्ति का कारण बताना चाहिये।

यदि कहाजाय, एक निमित्तविशेष के सहित आत्ममनःसंयोग उस ज्ञान का हेतु है, तो वह निमित्तविशेष भी बताना चाहिये—क्या है जिसके सहयोग से आत्ममनःसंयोग मोक्ष में नित्यसुख को अभिव्यक्त करता है ? यदि वह कोई विशेष धर्म है, तो उसका हेतु बताना चाहिए; वह धर्म कहाँसे आजाता है ?

बतायागया, वह धर्म योगसमाधि से उत्पन्न होता है। योगसमाधि के सिद्ध होजाने पर एक अतिशय शक्ति का उद्भव होजाता है, वही विशेष धर्म है, जिसके सहयोग से मोक्ष में आत्ममनःसंयोग होने पर आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्ति होजाती है।

यह व्यवस्था भी मोक्ष में आत्मा के नित्यसुखसंवेदन को सदा बनाए रखने में सफल नहीं है। कारण यह है कि जगत् के प्रलय होने की दशा में कार्यमात्र का नाश होजाता है; जो उत्पन्न तत्त्व है, वह चाहे कुछ भी हो, प्रलयकाल में उसका क्षय होजाना अवश्यम्भावी है। योगसमाधि से उत्पन्न हुआ वह शक्तिविशेष=धर्मविशेष भी कार्य है; प्रलयकाल में उसका नाश होजायगा।

तब निमित्तान्तर | धर्मविशेष | का सहयोग न रहने पर मोक्ष में आत्ममनःसंयोग आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्ति में असमर्थ होगा। मोक्ष में भी सुख का ज्ञान न होने की दशा में उस सुख के अस्तित्व में सन्देह उत्पन्न हो जाता है—सुख का ज्ञान न होना, सुख की विद्यमानता में है, अथवा अविद्यमानता में ? वस्तु की अनुपलब्धि कभी उसकी विद्यमानता में भी होजाती है, और अविद्यमानता में तो निश्चित है। इसप्रकार मोक्ष में सुख की अनुपलब्धि | असंवेदन-सुख का ज्ञान न होना | उसके अस्तित्व में सन्देह उत्पन्न करदेती है। फलतः इसमें कोई प्रमाण नहीं कि सुख का ज्ञान न होनेपर भी उसके अस्तित्व को स्वीकार कियाजाय।

यदि कहाजाय—योगसमाधिजन्य धर्म का नाश नहीं होता, तो यह सर्वथा अप्रामाणिक होगा; क्योंकि उत्पत्तिधर्मक प्रत्येक पदार्थ अनित्य-नश्वर होता है। मोक्ष में नित्यसुख के ज्ञान को सदा बनाए रखने के लिए यदि उस ज्ञान के हेतु को नित्य मानाजाता है, तो ज्ञानहेतु के नित्य होने से मोक्ष-सुख का ज्ञान सदा बना रहेगा; उस अवस्था में मोक्ष और संसार समान होजायेंगे; यह सर्वथा अप्रामाणिक व अवाञ्छनीय है, जैसा—गत पंक्तियों में प्रकट करदियागया है।

यदि कहाजाय—संसारदशा में आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध उस नित्यसुखज्ञान के हेतु का प्रतिबन्धक है, उसे अपना कार्य करने से रोक देता है, इस कारण संसारी दशा में नित्यसुखज्ञान उभरने नहीं पाता।—यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि शरीरादि सम्बन्ध तो उपभोग के लिए है; वही उपभोग में रुकावट डाले, यह कहना सर्वथा निराधार है। अशरीर आत्मा को कोई भोग होता है, इसमें प्रमाण का सर्वथा अभाव है।

कहाजासकता है, प्रमाण का अभाव नहीं है; क्योंकि मोक्ष के लिए प्रवृत्ति, वहाँ इष्टप्राप्ति की भावना से होती है। शास्त्रों में मोक्ष का उपदेश इष्टप्राप्ति की भावना से कियाजाता है। यह सब निरर्थक नहीं है। इस आधार पर मानना चाहिए कि मोक्ष में आत्मा के अशरीर होने पर भी वहाँ नित्यसुखज्ञान का उद्भव होता है। अन्यथा विवेकी व्यक्ति की प्रवृत्ति और शास्त्रीय मोक्षोपदेश दोनों व्यर्थ होंगे।

यह कथन भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं है। विवेकी व्यक्ति की मोक्ष की ओर प्रवृत्ति और शास्त्रीय मोक्षोपदेश, दोनों वस्तुतः इष्टप्राप्ति के लिए न होकर अनिष्ट की समाप्ति के लिए होते हैं। कोई इष्ट इसीप्रकार के अनिष्ट से बिधा हुआ न हो, यह सम्भव नहीं है। प्रत्येक इष्ट के साथ कुछ-न-कुछ अनिष्ट संपृक्त रहता है। अनिष्ट की समाप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए पुरुष को इष्ट भी उसके साथ छोड़ना पड़जाता है। इनको अलग छाँटकर इष्ट को पकड़ना और अनिष्ट को छोड़ना सम्भव नहीं। संसार जन्म-दुःख-अनिष्ट है, इसको छोड़ने की

भावना ही मुमुक्षु की प्रबल रहती है, किसीको पकड़ने की नहीं। त्याग की परा-निष्ठा मोक्ष अथवा अध्यात्म का प्रशस्त मार्ग है। तब इष्ट की अभिलाषा स्वतः समाप्त होजाती है। त्याग और अभिलाषा-इच्छा साथ-साथ नहीं चलते।

यदि ऐसी कल्पना कीजाती है कि मुमुक्षु-दशा में इस दृष्ट अनित्य नश्वर क्षणिक सुख को छोड़कर व्यक्ति नित्यसुख की कामना से प्रवृत्त होता है, तो वह दृष्ट अनित्य देह-इन्द्रिय आदि को छोड़कर नित्य देह-इन्द्रिय आदि की कामना भी मुक्तिदशा में क्यों न करेगा ? यदि ऐसी कल्पना मोक्षविषयक कीजायेगी, तो मोक्ष की निर्विकल्प एकात्मता के क्या कहने ! फलतः मोक्ष में आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्तिविषयक मान्यता नितान्त अशास्त्रीय है।

यदि कहाजाय कि देह-इन्द्रिय आदि के नित्य होने की कल्पना तो सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है, ऐसी कल्पना नहीं कीजासकती; तो ठीक इसीके समान नित्यसुख की कल्पना को भी प्रमाणविरुद्ध समझना चाहिए। वास्तविकता यह है कि मोक्ष में सांसारिक समस्त दुःखों के अत्यन्त अभाव होजाने की अवस्था को सुख पद से अभिव्यक्त करदियाजाता है। यदि कहीं शास्त्र में मोक्ष के लिए सुख अथवा आनन्दरूप होने का उल्लेख है, तो उसको इसी व्यवस्था के अनुरूप समझना चाहिये। दुःखोंके अभाव में सुख-शब्द का प्रयोग प्रायः लोक में सर्वत्र देखाजाता है।

इस विषय में एक और ध्यान देने की बात है। यदि मुमुक्षु नित्यसुख की कामना से अध्यात्मपथ पर प्रवृत्त होता है, तो यह निश्चित है कि उसे नित्यसुखविषयक राग निरन्तर बना रहेगा, तब उसे मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है; क्योंकि राग बन्ध का कारण होता है, वह मोक्ष के प्रतिकूल है। राग बन्धन का रूप होने से राग के रहते कोई मुक्त हो, यह सर्वथा अप्रामाणिक है, असंगत है।

यदि यह मानलियाजाता है कि मुक्त का नित्यसुखविषयक राग क्षीण होजाता है, और मोक्ष होने में प्रतिकूल नहीं रहता, तो मुक्त आत्मा को नित्यसुख अभिव्यक्त होता है, या नहीं होता; इन दोनों पक्षों में आत्मा की मोक्षप्राप्ति के लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता। तात्पर्य है, वहाँ आत्मा यदि किसीप्रकार की अनुकूलता का अनुभव करता है, तो इसमें कोई अड़चन की बात नहीं है।

भाष्यकार ने स्वयं प्रस्तुतसूत्रव्याख्या की प्रारम्भिक पंक्तियों में अपवर्ग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'अभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति।' अपवर्ग-अवस्था भय, जरा और मृत्यु से रहित है, तथा वह 'ब्रह्मक्षेम' की प्राप्तिरूप है। 'ब्रह्मक्षेम' ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं; उसकी प्राप्ति

जाना अपवर्ग का स्वरूप है; यह भाष्यकार का अपना लेख है। इससे भाष्यकार की भावना के अनुरूप मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट होता है।

सूत्रकार ने 'समस्त दुःखों की परम्पराओं से अत्यन्त छूटजाना' [तदत्यन्त-विमोक्षः] जो अपवर्ग बताया है, वह केवल इस भावना से है कि इसके विना ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष का प्राप्त होना सम्भव नहीं होता, तथा समस्त प्रयत्न दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए कियाजाता है; यह होजाने पर ब्रह्मानन्द की अनुभूति अनायास होजाती है; उसके लिए अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। सूत्र-भाष्यकार आचार्यों के कथन में यही रहस्य है। फलतः दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति होना अपवर्ग का वास्तविक स्वरूप है।

विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपने विचारों के अनुसार विविधरूपों में अपवर्ग का उल्लेख किया है—

चार्वाक— मृत्यु अर्थात् देह का नष्ट होजाना मोक्ष है।

माध्यमिक— (शून्यवादी बौद्ध)—विज्ञानरूप आत्मा का उच्छेद होजाना।

योगाचार— (आदि अन्य बौद्ध)—समस्त दुःखवासनाओं का उच्छेद होनेपर विषयाकार विज्ञानसन्तति की समाप्ति से शुद्धविज्ञान-सन्तति का उदय होजाना।

जैन— आवरण का हट जाना।

शाङ्कर (वेदान्त)—जीवात्मा का अपने सच्चिदानन्दब्रह्मरूप में एकाकार होजाना।

रामानुज— जगत्कर्तृत्व को छोड़कर ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि समस्त कल्याण-गुणों की प्राप्ति के साथ वासुदेव के याथात्म्य का अनुभव मोक्ष है।

माध्व— जगत्कर्तृत्वादि को छोड़कर भगवज्ज्ञानाधीन दुःखहीन पूर्णसुख का अनुभव।

वाल्लभ— द्विभुज कृष्ण के साथ उसके अंशभूत जीवों का गोलोक में लीलानुभव करना मोक्ष है॥ २२॥

संशय का लक्षण—प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट प्रमाणों का तीन से आठ तक सूत्रों में तथा प्रमेयों का नौ से बाईस तक सूत्रों में लक्षण-निर्देशपूर्वक वर्णन कियागया। अब क्रमप्राप्त तृतीय उद्दिष्ट पदार्थ संशय का लक्षण सूत्रकार बताता है—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुप-
लब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥ २३ ॥

[समानानेकधर्मोपपत्तेः] समान धर्मोंकी उपपत्ति (स्थिति) से, तथा अनेकधर्मों की स्थिति से, [विप्रतिपत्तेः] विप्रतिपत्ति से विरुद्ध धर्मों की स्थिति से; [उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः] उपलब्धि की अव्यवस्था—अनियम—से, अनुपलब्धि की अव्यवस्था से, [च] और [विशेषापेक्षः] विशेष (ज्ञान) की अपेक्षा रहते हुए, जो [विमर्शः] विमर्श = द्विकोटिक ज्ञान होता है, वह [संशयः] संशय कहाजाता है।

सूत्र में 'संशयः' लक्ष्यपद है। जिसका लक्षण सूत्र में कियागया है, वह इस पद से निर्दिष्ट है। यहाँ 'विमर्शः' लक्षण-पद है। यह संशय के स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। इस पद के 'वि' उपसर्ग का अर्थ है—विरोध। 'मृश्' धातु तुदादिगणी परस्मैपदी 'आमर्शन' अर्थ में पठित है। 'आमर्शन' का अर्थ स्पर्श—छूना है; तात्पर्य है—जानकारी के साथ किसी वस्तु तक पहुँचना, अर्थात् वस्तु को जानना। इसप्रकार उक्त धातु का अर्थ यहाँ 'ज्ञान' समझना चाहिए। फलतः संशय का स्वरूप हुआ—एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान—द्विकोटिक ज्ञान होना। परन्तु संशय तभी उभरता है, जब विशेष ज्ञान की अपेक्षा हो; इसीलिए 'विशेषापेक्षः' विशेषण दियागया। यदि धर्मिविषयक विशेष को जानने की उत्कण्ठा जागृत नहीं होती, तो संशय के उत्पन्न होने का अवसर नहीं आता।

संशयोत्पत्ति की पाँच अवस्था—संशय उत्पन्न होने की पाँच अवस्था सूत्र में बताई हैं—समानधर्मोपपत्ति, अनेकधर्मोपपत्ति, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि-अव्यवस्था, अनुपलब्धि-अव्यवस्था। इनका यथाक्रम विवरण इसप्रकार समझना चाहिये—

समानधर्मोपपत्ति—पुरोवर्त्ती धर्मी में ऐसे धर्मों का दीखना, जो समानरूप से दो धर्मियों में विद्यमान रहते हैं, उन समान धर्मों के दीखने पर व्यक्ति संशय में पड़जाता है कि ये धर्म दोनों धर्मियों में से कौन-से में दिखाई देरहे हैं। सायंकाल का झुटपुटा होजाने पर निर्जन प्रदेश से होकर कोई व्यक्ति चलाजा-रहा है। सामने उसे कुछ खड़ा हुआ दीखा। व्यक्ति के पास कुछ धन आदि वाञ्छनीय वस्तु हैं। सामने दिखाई देरहे धर्मों में पुरुष और स्थाणु (ठूंठ, पेड़ का सूखा खड़ा हुआ तना) दोनों के समानधर्म—'आरोह परिणाह'—चढ़ाव-उतार, लम्बाई-चौड़ाई आदि दीखरहे हैं; पुरुष के विशेषधर्म—हाथ, पैर, सिर आदि; तथा स्थाणु के टेढ़ापन, खोखर आदि दिखाई नहीं देरहे; पर पथिक उनको जानने की इच्छा कररहा है, जिससे स्थाणु-पुरुष दोनों धर्मियों में से एक का निश्चय करसके। यदि पुरुष का निश्चय होजाय; और उससे हानि का भय

हो, तो आगे न जाकर वापस लौटजाय; यदि स्थाणु का निश्चय होजाय, तो निर्भय होकर आगे चलाजाय। व्यक्ति सोचता है, मैं स्थाणु-पुरुष के समान धर्मों को देखरहा हूँ, विशेष धर्मों को नहीं देखसकरहा, ऐसी प्रतीति होना 'अपेक्षा' है। यही अपेक्षा—भय, आशंका आदि का सहयोग पाकर—संशय को जन्म देती है। इसप्रकार समानधर्मों की जानकारी पर विशेष की अपेक्षा होने से संशय का स्वरूप स्पष्ट होता है—यह पुरोवर्त्ती दृश्यमान धर्मी स्थाणु है अथवा पुरुष है? ऐसा द्विकोटिक संशयात्मक ज्ञान समानधर्मों की उपपत्ति—जानकारी से होता है।

अनेकधर्मोपपत्ति—सूत्र में 'अनेक' पद धर्मी का बोधक है। प्रत्येक धर्मी का कोई समानजातीय धर्मी होता है, कोई असमानजातीय। यह किसी धर्म-विशेष के आधार पर मानाजाता है। जैसा 'द्रव्यत्व' धर्म के आधार पर पृथिवी के समानजातीय धर्मी हैं—जल, तेज आदि; और असमानजातीय धर्मी हैं—गुण आदि, क्योंकि इनमें द्रव्यत्व धर्म नहीं रहता। इसप्रकार 'अनेक' पद यहाँ पृथिवी आदि का बोधक है। पृथिवी में एक धर्म है—गन्धवत्त्व। यह पृथिवी का विशेषधर्म है। समान-असमानजातीय सभी धर्मियों से पृथिवी को यह भिन्न रखता है। पृथिवी में गन्धवत्त्व-धर्म 'अनेकधर्म' कहाजायगा, क्योंकि यह पृथिवी को अनेकों (समान-असमानजातीयों) से पृथक् रखता है। पृथिवी में इस धर्म की विद्यमानता पृथिवी के विषय में यह सन्देह उत्पन्न करती है कि पृथिवी को द्रव्य मानाजाय, अथवा गुण या कर्म? क्योंकि 'गन्धवत्त्व का अभाव' जलादि द्रव्यों, गुण और कर्म तीनों में समान रूप से विद्यमान है। इसप्रकार अनेकधर्म अर्थात् किसी धर्मी का असाधारणधर्म उसकी किसी स्थिति के विषय में संशय का जनक होजाता है। यह उसी दशा में होता है, जब उस धर्मी के विषय में विशेष जानकारी की अपेक्षा हो।

भाष्यकार ने दूसरा उदाहरण प्रस्तुत प्रसंग में दिया—जैसे, शब्द में 'विभागजत्व' विशेषधर्म है। अन्य सभी द्रव्यादि से शब्द को यह भिन्न रखता है, द्रव्यादि से शब्द का यह भेदक व व्यवच्छेदक है। तब शब्द के विषय में यह संशय उत्पन्न होता है कि शब्द, द्रव्य-गुण-कर्म तीनों में से कौन-सा है? 'विभागजत्व'-धर्म का द्रव्यादि सभी धर्मियों में अभाव होने से शब्द को द्रव्य मानकर गुण-कर्म से भिन्न कहाजाय? अथवा गुण मानकर द्रव्य-कर्म से भिन्न कहाजाय? या कर्म मानकर द्रव्य-गुण से भिन्न कहाजाय? किसी एक के व्यवस्थापक धर्म को मैं उपलब्ध नहीं करपारहा हूँ, जिसे करना चाहता हूँ; द्रष्टा की ऐसी बुद्धि प्रकृत में 'विशेषापेक्षा' है, जो संशय की उत्पत्ति में प्रयोजक है।

विप्रतिपत्ति—इस पद में 'वि' का अर्थ है—विरुद्ध अथवा विरोधी। 'प्रतिपत्ति' का अर्थ है—ज्ञान। एक अधिकरण में विरोधी ज्ञान होना 'विप्रतिपत्ति'

है, जो संशय को उत्पन्न करता है। जैसे—कोई आचार्य कहते हैं—आत्मा है; अन्य आचार्य का कहना है—आत्मा नहीं है। यहाँ आत्मा एक अधिकरण में 'है' और नहीं' ये दो विरोधी ज्ञान जब किसी तीसरे व्यक्ति के सामने आते हैं, तो उसे संशय होजाता है कि आत्मा है या नहीं ? क्योंकि 'होना' और 'न होना' दोनों विरोधी धर्मों का एक अधिकरण में रहना असम्भव है। इनमें से किसी एक धर्म का निश्चायक हेतु जबतक उपलब्ध नहीं होता, विशेष की अपेक्षा होने पर तबतक अनवधारणरूप संशय की स्थिति बनी रहती है।

उपलब्धि-अव्यवस्था—कभी यह देखाजाता है कि न होती हुई अर्थात् अविद्यमान वस्तु की उपलब्धि-प्रतीति होजाती है; जैसे—मरुमरीचिका में जल की प्रतीति; तथा नदी-तड़ाग आदि में विद्यमान जल की उपलब्धि होती है। अनन्तर किसी अवसर पर कोई वस्तु प्रतीत होने पर यह संशय उत्पन्न होजाता है कि यह प्रतीति मरुमरीचिका में जल के समान अविद्यमान की प्रतीति है, अथवा नदी आदि में जल के समान विद्यमान की ? विशेष की अपेक्षा होने पर जबतक विशेष के अवधारण (निश्चय) का कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता, यह संशय बना रहता है। विद्यमान-अविद्यमान दोनों प्रकार की वस्तु का उपलब्ध होजाना, उपलब्धिविषयक अव्यवस्था का स्वरूप है।

अनुपलब्धि-अव्यवस्था—पूर्वोक्त के विपरीत कभी ऐसा होता है कि विद्यमान वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, अर्थात् अनुपलब्धि रहती है। जैसे—विद्यमान भी वृक्षादि की जड़ दिखाई नहीं देती। दीवार में गड़ी कील का अथवा भूमि में गड़े खूँटे आदि का बहुत-सा भाग दिखाई नहीं देता। भूमि के भीतर पानी भरा पड़ा है, पर दीखने में नहीं आता। यह विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि है। अविद्यमान वस्तु, जो उत्पन्न नहीं हुई; अथवा उत्पन्न होकर नष्ट होचुकी है, उसकी अनुपलब्धि यथार्थ है। अनन्तर ऐसा होजाता है कि ढूँढने पर भी कभी वस्तु नहीं मिलरही होती। उस समय यह संशय होजाता है कि वस्तु की यह अनुपलब्धि वस्तु की अविद्यमानता में है, अथवा विद्यमान ही वस्तु दिखाई नहीं देरही ? वस्तु की विद्यमानता-अविद्यमानता दोनों अवस्थाओं में वस्तु की अनुपलब्धि, 'अनुपलब्धि-अव्यवस्था' का स्वरूप है।

प्रत्येक हेतु के अवसर पर विशेष जानकारी की अपेक्षा होना आवश्यक रहता है। इस ओर से व्यक्ति के उदासीन रहने पर संशय अवकाश नहीं पाता। यहाँ यह समझरखना चाहिए कि प्रथम कहे समानधर्म और अनेकधर्म ज्ञेय वस्तुगत रहते हैं, तथा अन्त में कहे गये उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञाता व्यक्ति में अवस्थित रहते हैं। इन हेतुओं में साधारण समता रहने पर भी इसी विशेषता के कारण इनका पृथक् निर्देश कियागया है॥ २३ ॥

'प्रयोजन' का स्वरूप—अवसरप्राप्त प्रयोजन का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

[यम्] जिस [अर्थम्] अर्थ को [अधिकृत्य] लक्ष्य कर [प्रवर्त्तते] प्रवृत्त होता है (कोई व्यक्ति) [तत्] वह (अर्थ) [प्रयोजनम्] प्रयोजन कहा-जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति हानिकर तथा दुःखप्रद स्थिति से बचना चाहता है, तथा लाभकर व सुखजनक वस्तु को प्राप्त करना चाहता है। यह प्रतिकूल को छोड़ना तथा अनुकूल को पकड़ना व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति का लक्ष्य होता है। सूत्र का 'अर्थ' पद इसी [छोड़ने-पकड़ने की] भावना को अभिव्यक्त करता है। इसीका नाम 'प्रयोजन' है, क्योंकि यही प्रवृत्ति का हेतु-प्रयोजक होता है। इसीको उद्देश्य बनाकर व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त हुआ करता है। सूत्रगत 'अधिकृत्य' पद के अन्तर्हित 'अधिकार' का तात्पर्य है—इस अर्थ को प्राप्त करूँगा, अथवा इसको छोड़ूँगा, ऐसा निश्चय। इसी निश्चय को उद्देश्य व लक्ष्य बनाकर व्यक्ति उसको सम्पन्न करने में प्रवृत्त होता है। इसप्रकार निश्चय किया हुआ अर्थ प्रवृत्ति का लक्ष्य बनजाता है। वही 'प्रयोजन' है।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति सुख को प्राप्त करने और दुःख को छोड़ने के लिए प्रवृत्त रहता है, अतः सुखप्राप्ति व दुःखहानि को प्रयोजन समझना भी अयुक्त नहीं है। इसप्रकार पूर्वोक्त निश्चय के विषय—सुखप्राप्ति, दुःखहानि—को 'प्रयोजन' मानाजाय; यह भी शास्त्र में अनुमोदित है ॥ २४ ॥

'दृष्टान्त' का स्वरूप—क्रमप्राप्त दृष्टान्त का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

[लौकिकपरीक्षकाणाम्] लौकिक और परीक्षकों की [यस्मिन्] जिस [अर्थे] अर्थ में-विषय में [बुद्धिसाम्यम्] बुद्धि जानकारी समान है [सः] वह (अर्थ) [दृष्टान्तः] दृष्टान्त होता है।

सूत्र के 'लौकिक' पद से समाज का साधारण जन विवक्षित है, जिसने स्वभावतः अथवा शिक्षा आदि के द्वारा ज्ञानातिशय प्राप्त नहीं किया। वे जन 'परीक्षक' कहेजाते हैं, जिन्होंने दोनों प्रकार ज्ञानातिशय को प्राप्त किया है; जो प्रमाण और तर्क आदि के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करने में समर्थ होते हैं। जिस विषय को लौकिक और परीक्षक दोनों समानरूप से स्वीकार करें, वह दृष्टान्त-कोटि में आता है। तात्पर्य है, ऐसे विषय का उपयोग आगे वर्णित अवयवों [सूत्र ३२-३७] में उदाहरण (दृष्टान्त) रूप से कियाजाता है।

सूत्र के 'लौकिक-परीक्षक' पद दो विभिन्न आधारों का संकेत करते हैं। उनसे पारस्परिक चर्चा व कथा-प्रसंगों में वाद-प्रतिवादरूप से उपस्थित दो पक्षों का निर्देश अभिव्यक्त होता है। इसके अनुसार चर्चा-प्रसंगों में वादी और प्रतिवादी दोनों जिस अर्थ को समानरूपसे स्वीकार करें, वही दृष्टान्त—उदाहरणरूप से पञ्चावयव वाक्य में प्रस्तुत कियाजाता है। दृष्टान्त के दो प्रकार हैं—साधर्म्य और वैधर्म्य। ऐसे दृष्टान्त के साथ विरोध होने पर प्रतिपक्ष का निषेध-खण्डन, और दृष्टान्त की अनुकूलता होने पर अपने पक्ष का स्थापन-मण्डन होता है।

स्वयं 'दृष्टान्त' पद से यह भावना अभिव्यक्त होती है। यह 'दृष्ट' और 'अन्त' दो पदों का समवाय है। पहले का अर्थ है—ज्ञात, और दूसरे का है—ऐसा होने का निश्चय, उसकी पूर्णता—इत्थम्भावव्यवस्था। किसी ज्ञात अर्थ को पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों के द्वारा उसीरूप में अर्थात् समानरूप में स्वीकार करना 'दृष्टान्त' है। अवयवों में दृष्टान्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है॥ २५॥

सिद्धान्त का लक्षण—अवसरप्राप्त सिद्धान्त का लक्षण सूत्रकार ने किया—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः॥ २६॥

[तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः] तन्त्रसंस्थिति, अधिकरणसंस्थिति और अभ्युपगमसंस्थिति [सिद्धान्तः] सिद्धान्त है।

'सिद्धान्त' पद 'सिद्ध' और 'अन्त' दो पदों का समवाय है। पहले का भाव है—यह इसप्रकार का है, इस रूप में जानागया अथवा स्वीकृत कियागया पदार्थ। दूसरे का तात्पर्य है—पूर्णतया, वैसे होने का निश्चय। पदार्थविषयक ज्ञान की पूर्णता; यह ऐसा होसकता है, अन्य प्रकार का नहीं, यह 'सिद्धान्त' का स्वरूप है। ठीक यही भाव सूत्र के 'संस्थिति' पद द्वारा अभिव्यक्त होता है। 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है—सम्यक् प्रकार अच्छी तरह पूर्णरूप से। 'स्थितिः' ठहराव, जो वस्तु जैसी जानी गई है, उसका पूर्णता से उसीरूपमें होना [इत्थम्भावव्यवस्था] 'संस्थिति' पद का तात्पर्य है। इसके अनुसार सिद्धान्त का स्वरूप या लक्षण केवल 'संस्थितिः' है। सूत्र के शेष पद 'संस्थिति' पद के साथ जुड़कर सिद्धान्त के विभिन्न प्रकारों को अभिव्यक्त करते हैं। उनमें पहला है—

सिद्धान्त के भेद

तन्त्रसंस्थितिः—'तन्त्र' पद शास्त्र का पर्याय है। एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध अर्थ-समूह का जो उपदेश कियाजाता है, वह शास्त्र है। वहाँ उपपादित विचार

तन्त्रसंस्थिति अर्थात् तन्त्रसिद्धान्त कहेजाते हैं। सिद्धान्त का दूसरा प्रकार है—

अधिकरणसंस्थितिः—एक अर्थ के सिद्ध होने पर जो उससे सम्बद्ध अर्थ आवश्यकरूप से स्वतः सिद्ध होजाते हैं; अर्थात् जिनकी सिद्धि के विना पहला अर्थ सिद्ध नहीं होपाता; उन अर्थों का प्रकरणानुकूल निश्चय 'अधिकरणसिद्धान्त' मानागया है। सिद्धान्त का तीसरा प्रकार है—

अभ्युपगमसंस्थितिः—जो विषय अभी निश्चित नहीं है, उसको किसी प्रसंग के कारण स्वीकार करलेना। किसी विशेष अर्थ की परीक्षा करने के लिए कथाप्रसंगों में कभी किसी अनिश्चित विषय को उतने अवसर के लिए स्वीकार करलियाजाता है। ऐसा स्वीकार 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहाजाता है॥ २६॥

तीनप्रकार के सिद्धान्तों में पहले प्रकार 'तन्त्रसंस्थिति' के दो भेद हैं—सर्वतन्त्रसंस्थिति, प्रतितन्त्रसंस्थिति। इसके अनुसार सूत्रकार ने सिद्धान्त के चार भेदों का निर्देश किया—

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगम-संस्थित्यर्थान्तरभावात्॥ २७॥

[सः] वह सिद्धान्त [चतुर्विधः] चार प्रकार का है [सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्] सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम संस्थितियों के परस्पर भिन्न होने से (—अर्थान्तरभावात्)।

'संस्थिति' पद को प्रत्येक के साथ जोड़कर सिद्धान्त के ये चार भेद स्पष्ट होते हैं—सर्वतन्त्रसिद्धान्त, प्रतितन्त्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त, अभ्युपगम-सिद्धान्त। इस नामनिर्देश में लक्षण-पद 'संस्थिति' के स्थान पर लक्ष्यपद 'सिद्धान्त' का प्रयोग सूत्रकार द्वारा अग्रिम सूत्रों में किये निर्देश के अनुसार है॥ २७॥

सर्वतन्त्रसिद्धान्त—इनमें प्रथम सिद्धान्त का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः॥ २८॥

[सर्वतन्त्राविरुद्धः] सब शास्त्रों में अविरुद्ध—समानरूप से स्वीकृत [तन्त्रे] किसी एक शास्त्र में [अधिकृतः] अधिकृत—विशेषरूप से वर्णित [अर्थः] अर्थ—विषय, [सर्वतन्त्रसिद्धान्तः] सर्वतन्त्रसिद्धान्त मानाजाता है।

कोई विषय किसी शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य होने के कारण उस शास्त्र में विशेषरूप से वर्णित कियागया हो; तथा अन्य सब शास्त्रों में उस विषय को—बिना किसी विरोध के—स्वीकार करलियाजाता है; वह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है, क्योंकि उसे सब शास्त्रों ने समानरूप से माना है।

जैसे—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र,ये इन्द्रियाँ हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द,ये सब यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषय हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश,ये पाँच भूत हैं। किसी अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा कियाजाता है। इन सब विषयों का विशेषरूप से निरूपण न्याय-वैशेषिक शास्त्रों में हुआ है; और अन्य सब शास्त्रों में इन अर्थों को इसी रूप से स्वीकार कियागया है। ऐसी मान्यताएँ 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' की सीमा में आती हैं॥ २८॥

प्रतितन्त्रसिद्धान्त—सिद्धान्त के दूसरे भेद का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः[1] प्रतितन्त्रसिद्धान्तः॥ २९॥

[समानतन्त्रसिद्धः] समानशास्त्र में (सिद्धान्तरूप से जो विषय) सिद्ध-निश्चित-स्वीकृत है, [परतन्त्रासिद्धः] अन्य शास्त्र में स्वीकृत नहीं है, वह [प्रतितन्त्रसिद्धान्तः] प्रतितन्त्रसिद्धान्त है।

गत सूत्र के 'तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः' पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में समझनी चाहिये। एक तन्त्र में जो अर्थ-विषय अधिकृत है, जिस उद्देश्य से शास्त्र का प्रारम्भ कियागया है, उसीके अनुरूप विषय का उपपादन है, उस शास्त्र के समान-शास्त्र में उक्त विषय को उसीरूप में सिद्ध मानलियागया है; परन्तु अन्य शास्त्रों में—जिनका वह विषय प्रतिपाद्य नहीं है—उक्त विषय को उसीरूप में सिद्ध नहीं मानागया, प्रत्युत उसका वर्णन अन्य प्रकार से हुआ है; ऐसे विषय अपने-अपने शास्त्रों के प्रतिपाद्य होने से प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहेजाते हैं।

इस सिद्धान्त के स्वरूप की यह भावना इस नाम से स्वयं अभिव्यक्त होती है। प्रत्येक शास्त्र के अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप जो सिद्धान्त-मान्यता हैं, वे 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' हैं; क्योंकि उनका उसीरूप में प्रतिपादन

---

१. वात्स्यायनभाष्य पर सुदर्शनाचार्य द्वारा रचित एवं संवत् १९७८ [१९२२ ई० सन्] में गुजराती मुद्रणालय, बम्बई से प्रकाशित व्याख्या में सूत्र का पाठ—'समानतन्त्रासिद्धः परतन्त्रसिद्धः' दिया है; जो व्याख्याकार की कल्पना प्रतीत होता है। ऐसा पाठ अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं। इसका अर्थ किया है—"समानतन्त्रे-स्वशास्त्रसदृशशास्त्रेऽसिद्धः=अप्रतिपादितः, परतन्त्रे च सिद्धः=प्रतिपादितो यः सिद्धान्तत्वेन विषयः स प्रतितन्त्रसिद्धान्तः।" अपने समानशास्त्र में जो प्रतिपादित नहीं हुआ, और परशास्त्र में सिद्धान्त-रूप से प्रतिपादित हुआ है, वह प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहाजाता है। ऐसा अर्थ कर देने पर दोनों पाठों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है।

हमने इस संस्करण में सूत्रपाठ को वाचस्पति मिश्रकृत न्यायसूची-निबन्ध के अनुसार सर्वत्र स्वीकार किया है।

अन्य उन शास्त्रों में नहीं होता, जिनका वह प्रतिपाद्य विषय नहीं है। जैसे सांख्य की मान्यता है—जो असत् है, वह कभी सद्भाव में नहीं आता; जो सत् है, उसके स्वरूप का नाश नहीं होता। चेतन समस्त आत्मतत्त्व निरतिशय है, अतिशय से शून्य है। अतिशय का अर्थ है—अतिरेक विशेषता, परस्पर एक-दूसरे से अन्तर होना। आत्माओं में यह बात नहीं है; अर्थात् समस्त आत्मा चैतन्यरूप से समान हैं। निरतिशय का यह भी तात्पर्य है कि राग-द्वेष आदि के आपात से आत्मतत्त्व के चैतन्यस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, आत्मतत्त्व का अत्रिगुणात्मक स्वरूप उस अवस्था में भी अक्षुण्ण बना रहता है। देह, इन्द्रिय, मन तथा इन्द्रियों के गन्ध, रूप आदि विषयों और उनके कारणों में परस्पर विशेषता-भेद पायाजाता है। देह आदि कार्यों में उपलभ्यमान आपसी भेद उनके कारण-भेद से अभिव्यक्त होता है; इसलिए देहादि कार्य एक-दूसरे से भिन्न हैं, उनके कारण-तत्त्व भी परस्पर भिन्न होते हैं।

इस विचार की प्रतियोगिता में न्याय-वैशेषिक[1] की मान्यता है—जगत् की रचना में पुरुषों के शुभाशुभ कर्म कारण होते हैं; कर्मों के कारण दोष हैं, और प्रवृत्तियाँ हैं[2]। चेतन आत्मतत्त्व अपने राग, द्वेष आदि गुणों से युक्त होते हैं; कोई आत्मा रागी है, कोई द्वेषी। इसप्रकार इनका परस्पर वैशिष्ट्य लोक-व्यवहार में जानाजाता है। उत्पत्ति असत् की होती है; यदि वह उत्पत्ति से पूर्व सत् है, तो उत्पन्न होना अनावश्यक है। जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाश होजाता है; उत्पन्न वस्तु को सदा बने रहते नहीं देखाजाता, इत्यादि।

---

१. वात्स्यायनभाष्य में इस मत को 'इति योगानाम्' कहकर लिखागया है। कतिपय व्याख्याकारों ने इसका पातञ्जल योग आदि अर्थ समझने में भूल की है। 'सांख्य' नाम से जो सिद्धान्त भाष्य में कहे हैं, पातञ्जल योग उनको ठीक उसीरूप में स्वीकार करता है; सांख्य से उसका कोई विरोध नहीं है। वात्स्यायन ने यहाँ 'योग' पद का प्रयोग 'न्याय-वैशेषिक' के लिए किया है। इसका आधार है—परमाणुओं के संयोग से जगत् की रचना का मानना। पातञ्जल योग के लिए प्रयुक्त 'योग' पद 'युज् समाधौ' धातु से निष्पन्न होता है, तथा न्याय-वैशेषिक के लिए प्रयुक्त 'योग' पद 'युजिर् योगे' धातु से। पदों की आकृति समान है, पर अर्थ भिन्न है। इस पद का प्रयोग इसी अर्थ में कौटलीय अर्थशास्त्र में हुआ है—"सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी" [कौट० १। २। १०]

२. इसके लिए देखें—गत प्रकरण के सूत्र १७, १८ तथा अ० ३, आ० २, सू० ६०-७२॥

ये मान्यताएँ आपाततः एक-दूसरे के विपरीत प्रतीत होती हैं; पर वस्तुतः विभिन्न शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय की सीमाओं का यह चमत्कार है। प्रत्येक शास्त्र उतनी बात को—अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय की—सीमा के अन्दर रहकर कहना चाहता है। उसमें वस्तु का जो स्वरूप उभरकर आता है, उतने को वह कह देता है। वह कथन—अन्य शास्त्र की उस विषय की मान्यता से—मेल खाता दिखाई नहीं देता, क्योंकि विषय के प्रतिपादन की उसकी अपनी सीमा हैं। ऐसी स्थिति में ये मान्यता 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' के नाम से शास्त्र में व्यवहृत होती हैं ॥ २९ ॥

अधिकरणसिद्धान्त—अवसरप्राप्त अधिकरणसिद्धान्त का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

[यत्सिद्धौ] जिस अर्थ की सिद्धि होजाने पर [अन्यप्रकरणसिद्धिः] दूसरे—प्रकरण में साथ लगे—अर्थों की जो सिद्धि होजाती है, [सः] वह [अधिकरणसिद्धान्तः] अधिकरणसिद्धान्त मानाजाता है।

मुख्य प्रसंग के सिद्ध होजाने पर उसके साथ लगे जो अर्थ स्वतः अनायास सिद्ध होजाते हैं; उन विषयों का उसप्रकार सिद्ध निश्चय होजाना 'अधिकरणसिद्धान्त' की सीमा में आता है। जैसे—आत्मा की सिद्धि का प्रसंग चल-रहा है; उसमें कहागया कि ज्ञाता आत्मा, देह-इन्द्रिय आदि से भिन्न है। उसमें हेतु दियागया—'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' [३। १। १]। 'दर्शन' चक्षु और 'स्पर्शन' त्वक् इन्द्रिय है। चक्षु के द्वारा रूप का ग्रहण होता है, त्वक् के द्वारा स्पर्श गुण का। चक्षु से स्पर्श का, तथा त्वक् से रूप का जानना सम्भव नहीं। ये इन्द्रियाँ नियत-विषय हैं; अपने-अपने किसी नियत विषय के ग्रहण में साधन होते हैं। एक इन्द्रिय से किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का ग्रहण कियाजाना शक्य नहीं होता। परन्तु जो ज्ञाता व द्रष्टा है, उसको जो प्रतिसन्धान[1] होता है, उसका स्वरूप है—जिस वस्तु को मैंने चक्षु-इन्द्रिय से देखा था, उसीको अब मैं त्वक् से छूरहा हूँ; अथवा जिसको त्वक् से छुआ था, उसीको अब चक्षु से देखरहा हूँ।

इस प्रतीति में गत अनुभव का—देखने व छूने का—स्मरण और वर्त्तमान अनुभव—छूना व देखना—दोनों भास रहे हैं। इससे स्पष्ट है—दोनों इन्द्रियों से भिन्न कोई अन्य द्रष्टा व ज्ञाता है, जो अकेला दोनों इन्द्रियरूप साधनों द्वारा

१. 'प्रतिसन्धान' वह ज्ञान होता है, जिसमें गत अनुभूत वस्तु का स्मरण और वर्त्तमान में होनेवाला अनुभव दोनों मिले रहते हैं। जैसा उक्त वाक्य से ज्ञात होरहा है।

ग्राह्य भिन्न विषयों का ज्ञान करता है, तथा पूर्वगृहीत का स्मरण करता है। ऐसी प्रतीति के कर्त्ता—द्रष्टा व ज्ञाता—इन्द्रियाँ नहीं होसकते; क्योंकि एक इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय के विषय को न ग्रहण करसकता है और इसीकारण न उसका स्मरण। परन्तु उक्त प्रतीति में एक कर्त्ता के द्वारा ग्रहण और स्मरण का होना स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता है—ज्ञाता, द्रष्टा, स्मर्त्ता आदि के रूप में आत्मतत्त्व इन्द्रिय तथा देह आदि से सर्वथा भिन्न वस्तु है।

शंका कीजासकती है—एक इन्द्रिय अन्य इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ग्रहण या स्मरण न करसके, पर इनका संघात—सब देहेन्द्रियादि का समूह—यह कार्य करसकेगा। समूह में सब विषयों के ग्रहण करने की क्षमता एकत्रित रहेगी।

यह शंका निराधार है। कारण है—उक्त समूह के किन्हीं विशिष्ट अवयवों में ग्राहकता-शक्ति का सीमित रहना। चक्षु आदि इन्द्रियाँ उस समूह के अवयव हैं। अपने-अपने विषय की ग्राहकता-शक्ति उन अवयवों में निहित रहती है; उनको छोड़कर अन्यत्र कहीं उसका संक्रमण असम्भव है। उन अवयवों से अतिरिक्त 'संघात' या 'समूह' नाम का कोई विशिष्ट तत्त्व नहीं है, जिस एक में ये समस्त शक्तियाँ संक्रान्त होगई हों। समूह मानने पर भी रूप का ग्रहण चक्षु द्वारा एवं रस का ग्रहण रसन द्वारा होगा। ऐसी स्थिति में जब पृथक् एक इन्द्रिय द्वारा इन्द्रियान्तर के विषय का ग्रहण-स्मरण नहीं होता, तब संघात मानने पर भी वह सम्भव न होगा। दोनों दशाओं में ग्रहण करने की परिस्थिति सर्वथा समान रहती है। इसप्रकार देह-इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त आत्मतत्त्व सिद्ध होता है।

यहाँ मुख्य प्रसंग आत्मा की सिद्धि का है। इसके निर्णीत होजाने पर इसके अनुषङ्गी [साथ में संलग्न] निम्न विषय स्वतः सिद्ध होजाते हैं—इन्द्रियों का नाना होना, एक-एक इन्द्रिय में अपने नियत विषय के ग्रहण करने की क्षमता होना, अपने विषय का ग्रहण करना–इन्द्रिय के अस्तित्व की पहचान होना, ज्ञाता के लिए इन्द्रियों का–ज्ञानसाधनमात्र होना, गन्ध आदि गुणों से द्रव्य का अतिरिक्त होना, द्रव्य को गुणों का अधिकरण मानना, तथा चेतनतत्त्वों का अनियतविषय होना, अर्थात् चेतनतत्त्व किसी एक ही विषय को ग्रहण करे—ऐसा न होना। देहेन्द्रियादि से आत्मा के अतिरिक्त सिद्ध होने पर उक्त सब अर्थ स्वतः सिद्ध होजाते हैं; क्योंकि इनकी सिद्धि के विना, देहादि से अतिरिक्त आत्मतत्त्व की सिद्धि का होना सम्भव नहीं होता। इसप्रकार मुख्य प्रसंग आत्मतत्त्व की सिद्धि होजाने पर उक्त मान्यताओं का सिद्ध होजाना 'अधिकरण-सिद्धान्त' की सीमा में आता है॥ ३०॥

अभ्युपगमसिद्धान्त—अन्तिम 'अभ्युपगमसिद्धान्त' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया।

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगम-सिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

[अपरीक्षिताभ्युपगमात्] अपरीक्षित अर्थ को स्वीकार कर लेने से [तद्विशेषपरीक्षणम्] उस विषय की विशेष परीक्षा के निमित्त [अभ्युपगम-सिद्धान्तः] अभ्युपगमसिद्धान्त मानाजाता है।

किसी विषय का निश्चय करने के लिए चर्चा चल रही है। उस विषय के किसी विशेष अंश की परीक्षा करनेके लिए जब उसके विना परीक्षा किये हुए किसी अंश को उस अवसर के लिए स्वीकार करलियाजाता है, तब ऐसा स्वीकार करना 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहाजाता है।

शब्द-विषयक चर्चा चलरही है। न्याय-वैशेषिक की मान्यता है—शब्द गुण है, और अनित्य है। प्रतिवादी ऐसा नहीं मानता, वह शब्द को न गुण मानता है, न अनित्य। शब्द का द्रव्यत्व और नित्यत्व दोनों अभीतक अपरीक्षित हैं, शब्द-विषयक इन दोनों बातों की परीक्षा करनी अपेक्षित है। जब वादी यह कहता है—अच्छा, मानलेते हैं थोड़ी देर के लिए कि शब्द द्रव्य है। शब्द के द्रव्य होने पर 'वह नित्य है अथवा अनित्य?' इस विशेष धर्म की परीक्षा करलेनी चाहिए। ऐसे अवसरों पर शब्द के अपरीक्षित धर्म 'द्रव्यत्व' को चर्चा-प्रसंग में स्वीकार करलेना 'अभ्युपगमसिद्धान्त' की सीमा में आता है। वादी का ऐसा स्वीकार करना—अपनी बुद्धि व प्रतिभा के अतिशय को, तथा प्रतिवादी की बुद्धि के तिरस्कार को प्रकट करने के लिए होता है।

विभिन्न सिद्धान्तों के जो नाम सूत्रकार ने निर्धारित किए हैं, उनके निर्वचन के आधार पर उस सिद्धान्त का स्वरूप अभिव्यक्त होजाता है ॥ ३१ ॥

'अवयव' प्रतिज्ञा आदि—सिद्धान्त-निरूपण के अनन्तर उद्देश्य-सूत्र के अनुसार क्रमप्राप्त 'अवयव' पदार्थ के विषय में सूत्रकार ने कहा—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

[प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि] प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन (ये पाँच) [अवयवाः] अवयव कहेजाते हैं।

यह 'अवयव' पद सांकेतिक है। किसी समूह के विभिन्न अंशों को 'अवयव' कहाजाता है। यह पद उस समूह का संकेत करता है। वह समूह है—विशिष्ट वाक्य, जिसके उक्त प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव हैं। इसी आधार पर उस वाक्य को 'पञ्चावयव वाक्य' कहाजाता है। उद्देश्य-सूत्र में सर्वप्रथम 'प्रमाण' का निर्देश है, प्रमाणों में एक 'अनुमान प्रमाण' है, जिसका निरूपण गत-सूत्रों [१।१।३,५] में करदियागया है। उसीका विवरण है—'अवयव'। वस्तु की सिद्धि के

लिए अनुमान-प्रमाण का प्रयोग जिस वाक्यसमूह के द्वारा कियाजाता है, उसीके प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव हैं।

अनुमान के भेद—अनुमान-प्रमाण दो प्रकार का मानागया है—एक 'स्वार्थानुमान' दूसरा 'परार्थानुमान'। पहला वह है, जहाँ व्यक्ति स्वयं किसी अर्थ को समझने के लिए उसके साधक हेतु, उदाहरण आदि का चिन्तन करता है, और उसीके अनुसार विषय की यथार्थता को समझलेता है। इसमें प्रतिज्ञा आदि वाक्य के उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

अनुमान का दूसरा प्रकार वह है, जहाँ अन्य व्यक्ति को किसी विषय के समझाने का प्रयास कियाजाता है। वहाँ प्रतिज्ञा आदि वाक्यों का प्रयोग आवश्यक होता है, क्योंकि विना वाक्यप्रयोग के अन्य को समझाया जाना सम्भव नहीं होता। यद्यपि शब्द-प्रमाण में किसी अन्य व्यक्ति को विषय की यथार्थता का समझायाजाना वाक्यप्रयोग द्वारा सम्भव होता है, परन्तु शब्द-प्रमाण का क्षेत्र केवल उतना है जहाँ, श्रोता-बोद्धा उच्चरित अथवा प्रयुक्त शब्द एवं वाक्यसमूह पर श्रद्धा व विश्वास रखता हो। शब्द-प्रमाण में 'प्रतिज्ञा' आदि अवयवों का निर्देश अनपेक्षित है। केवल वाक्योच्चारणमात्र की समानता से अनुमान के क्षेत्र में शब्द-प्रमाण का समावेश नहीं होता। यह परार्थानुमान वहाँ अपेक्षित होता है, जहाँ उच्चरित वाक्यसमूह पर श्रोता की श्रद्धा न हो। शिष्यों के सन्मुख गुरु के द्वारा प्रतिज्ञा आदि अवयवों का निर्देशन उनके स्वरूप को समझाने की भावना से होता है, जिससे अवसर आने पर वह उस अर्थ को उसीप्रकार प्रतिज्ञा आदि अवयवों के प्रयोग द्वारा अन्य व्यक्ति को समझा सके।

अवयवों में न्यूनाधिकता का विचार—समय-समय पर आचार्यों ने इन अवयवों में न्यूनाधिकता की कल्पना की है। किन्हीं का विचार है—प्रतिज्ञा आदि अवयवों में केवल एक 'उपनय' नामक अवयव अर्थ-साधन में उपयोगी है; क्योंकि उसमें हेतुगर्भित उदाहरण की अपेक्षा रखते हुए, 'तथा' या 'न तथा' कहकर साध्य का उपसंहार कियाजाता है। इसमें सभी अपेक्षित अवयव सन्निविष्ट हैं; उनका पृथक् निर्देश व्यर्थ का आडम्बर है।

उपनय में उदाहरण की स्पष्ट अपेक्षा रहती है, अतः उदाहरण और उपनय केवल दो अवयव अर्थ-साधन में पर्याप्त हैं; यह बौद्ध आचार्यों का विचार है।

अर्थ-सिद्धि में मुख्यरूप से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण का प्रयोग आवश्यक रहता है, अतः तीन अवयवों द्वारा अर्थ का निश्चय होजाने से अन्य का प्रयोग अनावश्यक है; कथन को केवल तूल देना है। यह होसकता है कि पहले तीन के स्थान पर अन्तिम तीन—उदाहरण, उपनय, निगमन—का उपयोग करलियाजाय। अर्थ-प्रकाशन की दृष्टि से इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं; किन्हीं

वाक्यों को केवल दुहराया जाता है। ऐसा विचार सांख्य-योग का है, तथा पूर्वोत्तर मीमांसा भी इसमें सहमति रखते हैं।

न्याय-वैशेषिक की यह दृढ़ मान्यता है कि स्वार्थानुमान में भले ही दो या तीन अवयवों का उपयोग मानलियाजाय, परन्तु परार्थानुमान में अर्थ के पूर्ण सर्वथा निःसन्दिग्ध निश्चय के लिए प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है।

कतिपय अज्ञात प्राचीन नैयायिकों ने प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के अतिरिक्त—अर्थसिद्धि में उपयोगी अन्य पाँच अवयवों की कल्पना की है—जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन, संशयव्युदास। पर वस्तुतः अर्थ-साधन में इनका सीधा उपयोग कुछ नहीं है। यह अलग बात है कि परम्परा से अथवा दूरागत कोई सहारा इनका कहीं लगजाय।

इनमें पहला 'जिज्ञासा' है, जिसका तात्पर्य है—किसी अर्थ को जानने की इच्छा। यह केवल उस अर्थ को जानने के लिए व्यक्ति की प्रवृत्ति में प्रयोजक है; अर्थ के साधन में इसका सीधा उपयोग कुछ नहीं। किसी अर्थ को व्यक्ति क्यों जानना चाहता है ? केवल इसलिए कि तत्त्वतः उसको जानकर—यदि वह हानिकर है, तो उसे छोड़दे; यदि लाभकर है तो उसे ग्रहण करे; यदि दोनों बातें नहीं हैं, तो उपेक्षा करदे। यह स्थिति अर्थ के साधन में कोई सहारा नहीं देती।

दूसरा अवयव 'संशय' है। यह एक प्रकार से जिज्ञासा का आधार है। किसी एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों की संहत प्रतीति होना संशय का जनक है। ऐसी प्रतीति से संशय होने पर—उन दो धर्मों में कौन यथार्थ है—यह जानने की इच्छा होती है। इससे स्पष्ट है, संशय तो जिज्ञासा की अपेक्षा अर्थ-साधक वाक्यों से और अधिक दूर जापड़ा है। फिर भी जिज्ञासा की जड़ होने के कारण आचार्य ने 'संशय' का पृथक् उपदेश करदिया है [१। १। २३]।

तीसरा अवयव जो अतिरिक्त कल्पना कियागया, उसका नाम 'शक्य-प्राप्ति' बताया। इसका स्वरूप है—प्रमाण प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान कराने के लिए होते हैं। यह एक साधारण बात है; केवल इतना जानने से—कि प्रमाण प्रमेय का ज्ञान कराने के लिए होते हैं—किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। अतः प्रतिज्ञा आदि के समान यह साधकवाक्य का भाग नहीं मानाजाता।

चौथा कल्पना किया अवयव—'प्रयोजन' है। प्रतिज्ञा आदि अवयवों का प्रयोग किसी अर्थ का निश्चय करने के लिए कियाजाता है। वह निश्चय अर्थ-साधक पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग का फल है, साधकवाक्य का एकदेश, भाग या अंश नहीं होसकता।

पाँचवाँ वैसा अवयव—'संशयव्युदास' बतायागया। इसका तात्पर्य केवल–प्रतिपक्ष का वर्णन करना–है। यह इसलिए कियाजाता है कि इसका प्रतिषेध करदेने पर विचार्य विषय अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित कियाजासके; तथा यह स्पष्ट होजाय, कि विरोधी कथन यथार्थ नहीं था। प्रतिपक्ष का वर्णनमात्र साधकवाक्य का एकदेश नहीं है।

किसी अर्थ का अवधारण करने के लिए चर्चा चलनेपर जिज्ञासा, संशय आदि का इतना ही उपयोग है; अथवा कहना चाहिए—इनकी सफलता इतने ही में है कि ये चालू प्रसंग की पूर्त्ति में थोड़ा उपकारक होते हैं; चालू प्रसंग में किसी अंश के पूरकमात्र, जैसा कि इनके उक्त विवरण से स्पष्ट होता है, ये साधकवाक्य के भाग नहीं बनते। इसके विपरीत प्रतिज्ञा, हेतु आदि वाक्य साक्षात् विचार्य अर्थ के साधक होने से उस वाक्यसमूह के अवयव-एकदेश मानेजाते हैं; उन्हींका विवरण सूत्रकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है ॥ ३२ ॥

'प्रतिज्ञा' अवयव का स्वरूप—साधक वाक्यसमूह के उन पाँच अवयवों में पहला है—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

[साध्यनिर्देशः] साध्य का निर्देश-कथन [प्रतिज्ञा] प्रतिज्ञा-नामक प्रथम अवयव है।

जो अर्थ अभी सिद्ध नहीं है, जिसके विषय में सन्देह बना हुआ है। सन्देह की निवृत्तिपूर्वक उस साध्य अर्थ का निश्चय करने के लिए सर्वप्रथम उसका कथन करना 'प्रतिज्ञा' है। जैसे—'शब्द नित्य है या अनित्य ?' यह शब्द के 'नित्यत्व-अनित्यत्व' में सन्देह है। अनित्यत्ववादी अपना पक्ष–पाँच अवयववाक्यों के साथ–प्रस्तुत करता है। वे वाक्य यथाक्रम इसप्रकार होंगे—

१. **प्रतिज्ञा**—'शब्दः अनित्यः'। शब्द अनित्य है। इसमें दो पद हैं—'शब्दः' और 'अनित्यः', यहाँ अनित्यत्व धर्म साध्य है, उसका अधिकरण शब्द है। तात्पर्य हुआ—शब्द-धर्मी में अनित्यत्व धर्म साध्य है, क्योंकि शब्द के नित्य-अनित्य होने में सन्देह है। सन्दिग्ध साध्य के अधिकरण को 'पक्ष' कहाजाता है—'सन्दिग्धसाध्यवान्[1] पक्षः'। जो पदार्थ निश्चितरूप से अनित्य हैं, वे शब्द के 'सपक्ष' कहे जायेंगे; जैसे—घट, पट, मठ (मकान) आदि। जो अनित्य नहीं हैं, अर्थात् नित्य हैं, वे शब्द के 'विपक्ष' कहे जायेंगे; जैसे—आत्मा, आकाश आदि।

---

१. 'साध्यवान्' पद में 'मतुप्' प्रत्यय अधिकरण अर्थ में है— संदिग्ध साध्य का अधिकरण 'पक्ष' कहाजाता है। शास्त्रीय प्रसंगों में उक्त अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए यह पद पारिभाषिक समझना चाहिए।

इनको यथाक्रम 'सधर्मा' और 'विधर्मा' भी कहाजासकता है। प्रतिज्ञा के अनन्तर दूसरा वाक्य है—

२. **हेतु**—'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'। 'यो य उत्पत्तिधर्मकः सः स अनित्यः' (व्याप्ति)।[1] उत्पत्तिधर्मक होने से। जो जो उत्पत्तिधर्मक होता है, वह अनित्य होता है; हेतु की पुष्टि व स्पष्टता के लिए यह व्याप्ति का निर्देश-कथन किया जाता है।

३. **उदाहरण**—'घटादिवत्'। घट आदि के समान।

४. **उपनय**—'तथा शब्दः'। जैसा उत्पत्तिधर्मक घट है, वैसा उत्पत्तिधर्मक शब्द है।

५. **निगमन**—'तस्मात्तथा'। घट के समान उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है॥ ३३॥

हेतु का स्वरूप—प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः॥ ३४॥

[उदाहरणसाधर्म्यात्] उदाहरण के साधर्म्य से [साध्यसाधनम्] साध्य का जो साधन होता है, वह [हेतुः] हेतु ('हेतु' नामक अवयव) कहाजाता है।

उदाहरण—साधर्म्य और वैधर्म्य—दोनों प्रकार का होता है। प्रस्तुत सूत्र में उदाहरण के साधर्म्य से हेतु का स्वरूप बताया है। गतसूत्र की व्याख्या में सपक्ष और विपक्ष का उल्लेख हुआ है। सपक्ष 'समानधर्मा' और विपक्ष 'विरुद्धधर्मा' पदार्थ होते हैं। समानधर्मा उदाहरण की अनुकूलता से जो धर्म साध्य को सिद्ध करनेवाला होता है, वह 'हेतु' नाम से कहाजाता है।

साधर्म्य हेतु—सपक्ष और विपक्ष अथवा सधर्मा और विधर्मा, सन्दिग्ध साध्य के अधिकरण—'पक्ष' की दृष्टि से होते है। चालू प्रसंग में 'शब्द' पक्ष है, और उसमें 'अनित्यत्व' साध्य है। अब देखना है, ऐसा कौन-सा धर्म है, जो शब्द और उदाहरण में प्रस्तुत पदार्थ—दोनों में समानरूप से रहता हो? ऐसा धर्म 'उत्पत्तिधर्मकत्व' है। इसको 'उत्पत्तिमत्त्व' भी कहाजासकता है। उत्पत्तिधर्मवाला होना, अथवा उत्पत्तिवाला होना, एक ही बात है। ऐसे उत्पत्तिवाले पदार्थ 'घट' आदि हैं, उनका कथन 'उदाहरण-अवयव' के रूप में होता है।

हेतु का स्वरूप बताने के लिए सूत्र में 'उदाहरणसाधर्म्य' पद का सन्निवेश इस उद्देश्य से कियागया है कि हेतु-निर्देश के साथ उदाहरण में उसकी विद्यमानता को अभिव्यक्त कियाजाय। यह अभिव्यक्ति 'व्याप्ति' के कथन द्वारा होती है। इसप्रकार 'शब्दः अनित्यः' प्रतिज्ञा के अनन्तर जब 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'

---

१. अधिक विवरण आगे उन-उन सूत्रों की व्याख्या में कियागया है।

अथवा 'उत्पत्तिमत्त्वात्' हेतु का निर्देश कियाजाता है, उसीके साथ व्याप्ति का निर्देश होना चाहिए—'यो य उत्पत्तिधर्मकः सः स अनित्यः'—जो पदार्थ उत्पत्तिवाला होता है, वह अनित्य होता है। आगे उदाहरण कहाजायगा—जैसे घट आदि पदार्थ। व्याप्ति के निर्देश से हेतु की दृढ़ता व बलवत्ता प्रकट होती है। सूत्रकार को व्याप्तिनिर्देश यदि अपेक्षित न होता, तो 'साध्यसाधनं हेतुः' इतना सूत्र पर्याप्त था। व्याप्ति का कथन हेतु के विषय में यह स्पष्ट करता है कि हेतु का सम्बन्ध केवल अनित्यत्व के अधिकरण-पदार्थों के साथ रहता है, उनसे अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में उक्त हेतु का सम्बन्ध नहीं है ॥ ३४ ॥

वैधर्म्य हेतु—जैसे उदाहरण के साधर्म्य से साध्यसाधन हेतु होता है, वैसे उदाहरण-वैधर्म्य से भी; यह सूत्रकार ने बताया—

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

[तथा] वैसे [वैधर्म्यात्] वैधर्म्य से।

गतसूत्र के 'साधर्म्यात्' पद को छोड़कर शेष समस्त सूत्र का यहाँ अनुवर्त्तन समझना चाहिए। इससे पूरा वाक्य होगा—'उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः।' जैसे उदाहरणसाधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है, वैसे [तथा] उदाहरणवैधर्म्य से [वैधर्म्यात्] साध्य का साधन 'हेतु' होता है।

अन्वय-व्यतिरेकव्याप्ति—पञ्चावयव वाक्य के रूप में प्रतिज्ञा है—'शब्दः अनित्यः'। हेतु है—'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'। उदाहरण-साधर्म्य से इस हेतु की व्याप्ति होगी—'जो उत्पत्तिधर्मवाला है वह अनित्य होता है।' इस व्याप्ति को 'अन्वयव्याप्ति' कहाजाता है। उदाहरणवैधर्म्य से व्याप्ति का स्वरूप होगा—'जो उत्पत्तिधर्मक नहीं है, वह अनित्य नहीं होता।' इसका नाम 'व्यतिरेकव्याप्ति' है। अन्वयव्याप्ति में उदाहरण है, जैसे—घट आदि द्रव्य। व्यतिरेकव्याप्ति में उदाहरण होगा, जैसे—आत्मा, आकाश आदि द्रव्य। अन्वयव्याप्तिक अनुमान में घट उदाहरण होने पर आगे 'उपनय' होगा—'तथा चायम्' वैसा यह शब्द है; अर्थात् जैसा घट है, वैसा (उत्पत्तिधर्मक) यह शब्द है। व्यतिरेक व्याप्तिक अनुमान में आत्मा आदि उदाहरण होने पर 'उपनय' होगा—'न तथा चायम्' और यह [शब्द] वैसा [आत्मा आदि जैसा] नहीं है, अर्थात् आत्मा आदि के समान, शब्द अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है। इसप्रकार व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु अनुत्पत्तिधर्मक द्रव्य आत्मा आदि से शब्द का वैधर्म्य प्रकट करता हुआ, शब्द के अनित्यत्व का साधक होता है ॥ ३५ ॥

उदाहरण का लक्षण—हेतु के अनन्तर सूत्रकार ने उदाहरण का लक्षण बताया—

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

[साध्यसाधर्म्यात्] साध्यसाधर्म्य से [तद्धर्मभावी] उस अथवा उसके धर्म को हुआनेवाला [दृष्टान्तः] दृष्टान्त [उदाहरणम्] 'उदाहरण' नामक अवयव है।

अन्वयव्याप्तिक उदाहरण—सूत्र के 'साध्य' पद से साध्य—अनित्यत्व, तथा साध्याधिकरण पक्ष—शब्द, दोनों का निर्देश सम्भव है। पहले निर्देश के अनुसार सूत्र की व्याख्या इसप्रकार समझनी चाहिए—साध्य 'अनित्यत्व' है; जो पदार्थ दृष्टान्तरूप से उपस्थित कियाजाता है, वहाँ भी 'अनित्यत्व' वैसा ही है; पर इतना विशेष है कि दृष्टान्त में 'अनित्यत्व' निश्चित है, पक्ष में सन्दिग्ध है। दृष्टान्त अपने निश्चित-अनित्यत्व के बल पर उस धर्म (अनित्यत्व) को पक्ष में हुआता है, अर्थात् प्रमाणित करता है। दृष्टान्त-घट में अनित्यत्व का साधक है—उत्पत्तिधर्मकत्व, वह पक्ष में भी विद्यमान है। अतः दृष्टान्त-बल पर पक्ष में अनित्यत्व को सिद्ध कियाजाता है।

'साध्य' पद के दूसरे निर्देश के अनुसार सूत्रार्थ होगा—साध्य अर्थात् पक्ष के समानधर्मा होने से दृष्टान्त उसके (पक्ष के) धर्म को हुआनेवाला होता है। पक्ष और दृष्टान्त दोनों में 'उत्पत्तिवाला होना' यह समानधर्म है। शब्द उत्पत्तिधर्मक है और घट भी। इस साधर्म्य से दृष्टान्त, पक्ष—शब्द में उसके 'अनित्यत्व' धर्म को प्रमाणित करता है। देखाजाता है—घट उत्पन्न होता है; उत्पत्ति से पहले वह नहीं था, उत्पन्न होजाने पर कालान्तर में नहीं रहता, नष्ट होजाता है, अतः अनित्य है। इसप्रकार एक धर्मी घट में जब हम अनित्यत्व और उत्पत्तिधर्मकत्व के साध्यसाधनभाव को जानलेते हैं, तब यह निर्धारित होजाता है कि जो पदार्थ उत्पत्तिधर्मक है, वह वश्य अनित्य होता है। शब्द को हम उत्पन्न होता हुआ अनुभव करते हैं; इसलिए उत्पन्न होनेवाले घट एवं निर्मित अन्य पात्र आदि के समान शब्द के अनित्य होने का निश्चय हो-जाता है।

इस तृतीय अवयव का 'उदाहरण' नाम इसीकारण रक्खागया है, क्योंकि इसके द्वारा दो धर्मों के साध्य-साधनभाव का अभिव्यंजन-प्रकाशन होता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्र के 'साध्य' पद का व्याख्यान द्वितीय निर्देश के अनुसार स्वीकार किया है ॥ ३६ ॥

व्यतिरेक-व्याप्तिक उदाहरण—अन्वयव्याप्तिक अनुमान में उदाहरण का स्वरूप बताकर सूत्रकार ने व्यतिरेकव्याप्तिक अनुमान में उदाहरण का स्वरूप बताया—

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

[तद्विपर्ययात्] उसके विपर्यय-वैपरीत्य से [वा] अथवा, और [विपरीतम्] विपरीत उदाहरण होता है।

सूत्र का 'तत्' सर्वनामपद साध्य का परामर्श करता है। 'विपर्यय' का अर्थ वैधर्म्य है। गतसूत्र से 'दृष्टान्त उदाहरणम्' पदों को यहाँ अनुवृत्त समझना चाहिये। सूत्रार्थ होगा–'साध्यवैधर्म्याद् अतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्'। जैसे साध्य के साधर्म्य से साध्य के धर्म को उसमें हुआनेवाला–प्रमाणित करनेवाला दृष्टान्त उदाहरण होता है, वैसे ही साध्यवैधर्म्य से साध्य में उस धर्म को न हुआनेवाला दृष्टान्त उदाहरण मानाजाता है।

जैसे–'शब्दः अनित्यः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्' शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि के लिए 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु प्रस्तुत किया। इसकी व्यतिरेकव्याप्ति होगी–'यदनुत्पत्तिधर्मकं भवति तन्नित्यं भवति नानित्यम्, यथा आत्मादि द्रव्यम्' जो अनुत्पत्तिधर्मक होता है, वह नित्य होता है, अनित्य नहीं; जैसे आत्मा आदि द्रव्य। इस व्यतिरेकव्याप्तिक उदाहरण का उपसंहार अगले अवयव–उपनय में इसप्रकार होगा–'यथा आत्मादि द्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टं, न तथा अयं शब्दः अनुत्पत्तिधर्मकः।' जैसे आत्मा आदि द्रव्य अनुत्पत्तिधर्मक नित्य देखाजाता है, यह शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है। अतः अन्तिम पञ्चम अवयव निगमन में इसका परिणाम प्रस्तुत करदियाजाता है–'तस्माद् उत्पत्तिधर्मकत्वाद् शब्दः अनित्यः'। इसलिए उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है।

पक्ष के साधर्म्य से जैसे दृष्टान्त, पक्ष में साध्यधर्म का निश्चायक होकर 'उदाहरण' मानाजाता है; वैसे ही पक्ष के वैधर्म्य से युक्त दृष्टान्त स्ववृत्तिधर्म से विरोधी धर्म का–पक्ष में–निश्चायक होने से 'उदाहरण' होता है। इन दोनों में परस्पर इतना विशेष है, कि पहले दृष्टान्त में जिन दो धर्मों के साध्य–साधनभाव को व्यक्ति देखता है, दृष्टान्त के साथ साधर्म्य होने से पक्ष में उन दो धर्मों के साध्यसाधनभाव का अनुमान करलेता है। अगले दृष्टान्त में स्थिति इसके विपरीत इसप्रकार रहती है–दृष्टान्त में जिन दो धर्मों में से एक के अभाव से [उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव से] अन्य धर्म के अभाव को [अनित्यत्व धर्म के अभाव को] देखता है; उनमें से एक के अभाव से [अनुत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव से] अन्य का अभाव [नित्यत्व का अभाव] साध्याधिकरण-पक्ष में अनुमान कर लेता है। इसप्रकार शब्द–पक्ष में अनुत्पत्तिधर्मकत्व का अभाव नित्यत्व के अभाव का साधक होकर शब्द में अनित्यत्व का निश्चय कराता है। यह सब स्थिति हेत्वाभास-प्रसंगों में सम्भव नहीं होती।

वस्तुतः हेतु और उदाहरण की सफलता–यथार्थता अत्यन्त दुरवगाह होती है। साध्य को सिद्ध करने में हेतु और उदाहरण की पूर्ण वास्तविकता को समझने तथा उसका प्रयोग करने के लिए सूक्ष्मबुद्धि एवं प्रतिभा की अपेक्षा रहती है। शास्त्र में प्रशस्त पाण्डित्य एवं गहन अवगाहन ही इसमें पारपाता है॥ ३७॥

'उपनय' का स्वरूप—क्रमप्राप्त चतुर्थ अवयव–'उपनय' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।। ३८ ।।

[उदाहरणापेक्षः] उदाहरण की अपेक्षा करता हुआ, उदाहरण के अधीन, उदाहरण के अनुसार [तथा] वैसा है [इति] इसप्रकार [उपसंहारः] उपसंहार, कथन करना; [न] नहीं है [तथा] वैसा [इति] इसप्रकार [वा] अथवा [साध्यस्य] साध्य का, साध्याधिकरण–पक्ष का, [उपनयः] 'उपनय' नामक चौथा अवयव है।

उदाहरण दो प्रकार के बताए गये : एक–अन्वयव्याप्तिमूलक; दूसरा–व्यतिरेकव्याप्तिमूलक। उसके अनुसार 'उपनय' के दो प्रकार होजाते हैं: १–"उदाहरणापेक्षः तथा इति साध्यस्य उपसंहारः उपनयः। अथवा, २–उदाहरणापेक्षः न तथा इति साध्यस्य उपसंहारः उपनयः।"

पहला उपनय अन्वयि–उदाहरणमूलक है। वहाँ उदाहरण 'घट' आदि पदार्थ हैं। उसके अनुसार 'तथा' कहकर साध्याधिकरण-पक्ष का पुनः निर्देश करना 'उपनय' है। उसका प्रकार है–'यथा घट उत्पत्तिधर्मकः तथा शब्दः।' जैसा घट उत्पत्तिधर्मक है, वैसा शब्द उत्पत्तिधर्मक है।

दूसरा उपनय व्यतिरेकि–उदाहरणमूलक है। वहाँ उदाहरण 'आत्मा' आदि पदार्थ हैं। उसके अनुसार 'न तथा' कहकर पक्ष का पुनः कथन करना 'उपनय' होता है। उसका प्रकार है–'यथा आत्मा अनुत्पत्तिधर्मकः न तथा शब्दः।' जैसा आत्मा अनुत्पत्तिधर्मक है, शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है। यहाँ अनुत्पत्ति-धर्मकता के उपसंहार का प्रतिषेध होने से 'उत्पत्तिधर्मकत्व' का शब्द में पुनः कथन अभिव्यक्त होता है। उपनय के ये दो प्रकार उदाहरण के दो प्रकारों के अनुसार होते हैं। इस सबका मूल–हेतु की अन्वय और व्यतिरेक–दो प्रकार की व्याप्ति है। ये प्रकार इन तीनों अवयवों में समानरूप से समझने चाहियें ।। ३८ ।।

'निगमन' का स्वरूप—उपनय के अनन्तर 'निगमन' अवयव का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ।। ३९ ।।

[हेत्वपदेशात्] हेतु के कथन से, अर्थात् हेतुकथनपूर्वक [प्रतिज्ञायाः] प्रतिज्ञा का [पुनः] फिर [वचनम्] कहना [निगमनम्] 'निगमन' नामक पाँचवाँ अन्तिम अवयव है।

साधर्म्य से कहेगये अथवा वैधर्म्य से कहेगये उदाहरण के अनुसार हेतु के कथनपूर्वक प्रतिज्ञा का पुनः कथन करना 'निगमन' है। यह भाव 'निगमन' पद से

स्वतः अभिव्यक्त होता है। 'निगमन' पद का अर्थ है–निःशेषरूप से जानकारी, पूर्णरूप से प्राप्ति अथवा सम्बन्ध। जिसके द्वारा प्रतिज्ञा आदि अवयवों का एकत्र ज्ञान, सम्बन्ध अथवा सफलता–सार्थकता का बोध करायाजाय, वह पञ्चावयव वाक्यसमूहमें अन्तिम अवयव 'निगमन' है।

अन्वयव्याप्तिक पञ्चावयव वाक्य—साधर्म्य से कहेगये उदाहरण के अनुसार अथवा हेतु–उदाहरण की अन्वयव्याप्ति के अनुसार पञ्चावयव वाक्य को प्रस्तुत करने का प्रकार यह है—

प्रतिज्ञा— 'शब्दः अनित्यः'–शब्द अनित्य है।

हेतु— 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'–उत्पत्तिधर्मवाला होने से। अथवा उत्पत्तिवाला होने से।[1]

उदाहरण—उत्पत्तिधर्मकं द्रव्यमनित्यं दृष्टम्, यथा घटादिकम्' उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अनित्य देखाजाता है (व्याप्ति); जैसे–घट आदि।

उपनय —'तथा चायम्' वैसा ही उत्पत्तिधर्मक यह शब्द है।

निगमन— 'तस्मात्तथा' उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है।

व्यतिरेकव्याप्तिक पञ्चावयव वाक्य—वैधर्म्य से कहेगये उदाहरण के अनुसार, अथवा हेतु–उदाहरण की व्यतिरेकव्याप्ति के अनुसार पञ्चावयव वाक्य निम्न प्रकार बोला जायगा—

प्रतिज्ञा— 'शब्दः अनित्यः'–शब्द अनित्य है।

हेतु— 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'–उत्पत्तिधर्मवाला होने से।

उदाहरण—'अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्, यथा आत्मादि द्रव्यम्'[2]–जो उत्पत्तिधर्मक नहीं है, अथवा अनुत्पत्तिधर्मक है, वह नित्य जानाजाता है, जैसे–आत्मा आदि द्रव्य।

उपनय— 'न चायं शब्दः तथाऽनुत्पत्तिधर्मकः'–यह शब्द वैसा–अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है।

निगमन— 'तस्मात्–अनुत्पत्तिधर्मकत्वाभावात्, उत्पत्तिधर्मकत्वाद्वा–तथा–अनित्यः शब्दः'—इसलिए–अनुत्पत्तिधर्मक न होनेसे, अथवा उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है।

---

१. हेतु का प्रयोग 'उत्पत्तिमत्त्वात्' इतना भी कियाजासकता है। उसी भाव को अभिव्यक्त करता हुआ–'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' हेतु भी युक्त है। शब्दार्थ है–प्रयत्न के अनन्तर होनेवाला। यह वस्तु की उत्पत्ति को बताता है।

२. यह इसप्रकार भी बोलाजाता है–यत् उत्पत्तिधर्मकं न भवति, तद् अनित्यमपि न भवति, यथा आत्माऽऽकाशादि द्रव्यम्।

इसप्रकार अनुमान-प्रमाण के पाँच वाक्यों द्वारा अर्थ का प्रकाशन अथवा अर्थ का निर्णय पूर्णरूप में होजाता है; उसमें किसी सन्देह का अवकाश नहीं रहता।

अनुमान में समस्त प्रमाणों का समावेश—पाँच वाक्यों के रूप में यह अनुमानप्रमाण अर्थनिर्णय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। कारण यह है कि इसमें अन्य समस्त प्रमाणों का समावेश रहता है। तात्पर्य है-अनुमान के रूप में समस्त प्रमाण आपस के सहयोग से अथवा परस्पर मिलकर किसी सन्दिग्ध अर्थ का निश्चय करने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। मेल में सदा अतुल बल रहता है। अनुमान-प्रमाण में समस्त प्रमाणों का मेल–सहयोग–समावेश इसप्रकार समझना चाहिये—

'प्रतिज्ञा' शब्दरूप—अनुमान के पांच अवयव-वाक्यों में पहला वाक्य 'प्रतिज्ञा' शब्दरूप है, अर्थात् शब्द-प्रमाण का प्रतीक है। आप्त–किसी अर्थ के साक्षात्कृतधर्मा उपदेष्टा–का उपदेश 'शब्द'-प्रमाण मानाजाता है। साक्षात्कार का तात्पर्य है–उपदेष्टा द्वारा उपदिश्यमान अर्थ की प्रत्यक्ष से एवं आवश्यकता होने पर अनुमान से परीक्षा करलेना। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित अर्थ–उपदेष्टा द्वारा कहागया–'शब्द'-प्रमाण है। 'शब्दः अनित्यः' यह प्रतिज्ञावाक्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित होकर वक्ता द्वारा कहाजाता है, अतः प्रतिज्ञा-वाक्य 'शब्द'-स्थानीय समझना चाहिये। प्रतिज्ञावाक्य और लौकिक शब्द–प्रमाणरूप वाक्य में यह समानता है कि दोनों का प्रामाण्य प्रत्यक्षादि से परीक्षित होने पर मानाजाता है। कारण यह है कि अनृषि–अवैदिक वाक्य का प्रामाण्य–प्रत्यक्षादि से परीक्षित हुए बिना–स्वतन्त्रता से स्वीकार्य नहीं है। केवल वेदवाक्य का प्रामाण्य स्वतन्त्र–स्वाधीन है, वह स्वतः प्रमाण है, उसके प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्षादि द्वारा परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। अतः उक्त समानता के आधार पर 'प्रतिज्ञा' शब्द-प्रमाणस्थानीय है। तात्पर्य है–अनुमान में प्रतिज्ञा-रूप से सहयोगी शब्द-प्रमाण प्रस्तुत अर्थ को सिद्ध करने के लिए उपस्थित हुआ है।

'हेतु' अनुमानरूप—पञ्चावयव वाक्य में दूसरे वाक्य 'हेतु' को अनुमान-स्थानीय अथवा अनुमान का प्रतीक समझना चाहिये। अनुमान के पाँचों अवयवों में 'हेतु' सर्वोत्कृष्ट अथवा सब में प्रधान मानाजाता है। अनुमान के क्षेत्र में प्रधान होने से हेतु को अनुमान-स्थानीय मानागया। तात्पर्य है–अनुमान-प्रमाण हेतु के रूप में उपस्थित होकर प्रस्तुत अर्थ को सिद्ध करने के लिए सन्नद्ध हुआ है। हेतु और अनुमान की समानता उदाहरण में प्रतिफलित होती है, जहाँ एक-धर्मी–उदाहरण में दो धर्मों के साध्य-साधनभाव को व्यवस्थित पायाजाता है। इसप्रकार अनुमान का उज्ज्वल स्वरूप सद्धेतु पर आधारित रहता है, अतः 'हेतु'-वाक्य अनुमानरूप कल्पना कियागया है।

'उदाहरण' प्रत्यक्षरूप—अनुमान के पाँच वाक्यों में तीसरा वाक्य उदाहरण प्रत्यक्ष-स्थानीय है। जिस पदार्थ में दो धर्मों के साध्य-साधनभाव को प्रत्यक्ष करलियाजाता है, वही पदार्थ उदाहरणरूप से प्रस्तुत कियाजाता है। उदाहरण दृष्ट होने से अदृष्ट अर्थ को सिद्ध करता है। जो दृष्ट है, वह प्रत्यक्ष है। अतः पाँच वाक्यों में उदाहरण प्रत्यक्ष का प्रतीक है। मानो—उदाहरणरूप में उपस्थित होकर प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान-साध्य अर्थ को सिद्ध करने में सहयोग देरहा है।

'उपनय' उपमानरूप—चौथा 'उपनय'-वाक्य उपमान-प्रमाण का प्रतीक है। दोनों में 'यथा, तथा' शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होना समानता है। उपमान-प्रमाण में जैसे 'यथा गौस्तथा गवयः' प्रयोग द्वारा अर्थ का अभिव्यञ्जन होता है; वैसे उपनय-वाक्य में 'यथा घटः तथा शब्दः' कहकर अर्थ का प्रकाशन कियाजाता है।

पाँचवें वाक्य निगमन द्वारा एक अर्थ की सिद्धि में सब प्रमाणों की सफलता को प्रकट करदियाजाता है। इसप्रकार अनुमान के पाँच वाक्यों के रूप में समस्त प्रमाण परस्पर मिलकर किसी एक अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। अर्थ-सिद्धि में अनुमान-प्रमाण का महत्त्व इससे स्पष्ट होता है।

'प्रतिज्ञा' आदि पाँच अवयवों का परस्पर सम्बन्ध—इसके अतिरिक्त इन पाँच वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध भी अटूट है। ये वाक्य एक-दूसरे से असम्बद्ध अनर्गल हों, ऐसा कदापि नहीं है। यह इनका ऐसा सम्बन्ध है, जिसे तोड़कर इनमें से किसीको अलग नहीं कियाजासकता। पहला वाक्य प्रतिज्ञा है; यदि इसको वाक्यसमूह से निकाल दियाजाय, तो हेतु आदि की प्रवृत्ति का आश्रय न रहेगा, तब हेतु आदि का प्रयोग किस आधार पर होगा, किसके लिए होगा? यदि हेतु को बाहर करदियाजाय, तो उदाहरण में जो साध्य के साधन का निर्देश कियाजाता है, दो धर्मों के साध्य-साधनभाव को अभिव्यक्त कियाजाता है, वह साधन—हेतु के अभाव में कैसे होगा? साध्यसिद्धि के लिए पक्ष में हेतु का आपादन भी न होगा, तथा निगमन में हेतु के कथनपूर्वक जो प्रतिज्ञावाक्य को दुहरायाजाता है, वह भी न हो सकेगा। अतः हेतु को वाक्यसमूह से हटाया-जाना सम्भव नहीं।

यदि वाक्यसमूह में उदाहरण को न रक्खाजाय, तो किसके साधर्म्य और वैधर्म्य से साध्य के साधक हेतु का ग्रहण कियाजायगा? उदाहरण के साथ साधर्म्य या वैधर्म्य को देखकर साध्य के साधक हेतु का निर्देश कियाजाता है [सूत्र, १।१।३४]। इसीप्रकार उपनय के प्रयोग में उदाहरण के अनुसार 'तथा' एवं 'न तथा' कहकर साध्य का समर्थन कियाजाता है [सूत्र, १।१।३८]। वह भी उदाहरण के अभाव में सम्भव न होगा। अतः अवयवों में से उदाहरण

को अलग कियाजाना अशक्य है; अन्य अवयवों का प्रयोग इस पर निर्भर करता है। इसप्रकार इनके परस्पर सम्बन्ध की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

उपनय नामक अवयव में उदाहरण के अनुसार साधक धर्म के बल पर साध्य का समर्थन कियाजाता है। यदि उपनय को इन अवयवों में से निकाल दियाजाय, तो साध्य को समर्थन प्राप्त न होने से इन वाक्यों के प्रयोग का उद्देश्य नष्ट होजाता है। इसीप्रकार पञ्चम अवयव 'निगमन' में प्रतिज्ञा आदि अवयवों के परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करते हुए उनके फल का निर्देश कियाजाता है। उनके प्रयोग का परिणाम क्या निकला ? यही उसमें स्पष्ट कियाजाता है। यदि निगमन को इस वाक्यसमूह में सम्बद्ध न मानाजाय, तो वह सब प्रयोग–फल का निर्देश न कियाजाने से निष्फल रहजायगा।

तात्पर्य है, प्रत्येक अर्थ-सिद्धि की पूर्णता अनुमानप्रमाण के इन पाँच अवयव-वाक्यों द्वारा सम्पन्न होपाती है। इनका समुचित प्रयोग होने पर वादी, प्रतिवादी एवं श्रोता आदि को प्रस्तुत अर्थसिद्धि में किसीप्रकार की आशंका का अवकाश नहीं रहता। फलतः प्रत्येक अवयव का प्रयोग सार्थक–सप्रयोजन है। प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोजन है–साध्य धर्म का धर्मी के साथ सम्बन्ध प्रकट करना। अन्वयि एवं व्यतिरेकि उदाहरण के अनुसार साध्य-धर्म को सिद्ध करने की क्षमता का निर्देश 'हेतु' का प्रयोजन है। दो धर्मों [साध्य और हेतु] के परस्पर साध्य-साधनभाव को एक जगह दिखलाना उदाहरण का प्रयोजन है। साध्य-साधन धर्मों का एक अधिकरण-पक्ष में उपपादन करना उपनय का प्रयोजन है। उदाहरण में जिन दो धर्मों के साध्यसाधनभाव को व्यवस्थितरूप से जानलिया है, उसको साध्य के अधिकरण-पक्ष में निश्चयात्मकरूप से व्यवस्थित व समर्थित करना निगमन का प्रयोजन है, जिससे (साध्यधर्म के) विपरीत प्रसंग का प्रतिषेध कियाजासके।

इन पाँच अवयववाक्यों में आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण हेतु और उदाहरण-वाक्यों का यदि पूर्णरूप से निर्दोष एवं समुचित प्रयोग कियाजाता है, तो उन सबप्रकार के प्रतिषेधों से बचाजासकता है, जो हेतु और उदाहरण के साधर्म्य–वैधर्म्य के आधार पर विविध प्रकारों को लेकर जाति और निग्रहस्थान के रूप में प्रस्तुत कियेजासकते हैं। जाति और निग्रहस्थान के उभरने व प्रयोग कियेजाने का अवसर तभी आता है, जब उन दो धर्मों [साध्य और हेतु] के निर्दोष साध्य-साधनभाव को उदाहरण में व्यवस्थितरूप से देखने-समझने की उपेक्षा करदीजाती है। इसलिए उन दो धर्मों के निर्दोष साध्य-साधनभाव को उदाहरण में व्यवस्थित एवं समुचितरूप से देख-समझलेने पर साधनभूत धर्म का हेतुरूप से प्रयोग कियाजाना चाहिये। उदाहरण में साध्य–हेतु के साधारण साधर्म्य-

वैधर्म्य को आपातमात्र देखकर कियागया हेतु का प्रयोग धोखा देजाता है। इसमें गहरी सावधानता वर्त्तना आवश्यक रहता है ॥ ३९ ॥

'तर्क' का स्वरूप—अवयव-विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर क्रमप्राप्त 'तर्क' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्व-ज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

[अविज्ञाततत्त्वे] जिस वस्तु की यथार्थता को अभी तक नहीं जाना है, ऐसे [अर्थे] वस्तु के विषय में [कारणोपपत्तितः] कारण-साधक हेतु की सिद्धि—उपस्थिति से [तत्त्वज्ञानार्थम्] तत्त्वज्ञान के लिए—वस्तु के याथार्थ्य को जानने के लिए [ऊहः] ऊहा करना [तर्कः] तर्क का स्वरूप है।

सूत्र में केवल 'ऊहः' पद तर्क के स्वरूप को प्रकट करता है। सूत्र के शेष पद उसकी पृष्ठभूमि तथा संलग्न अपेक्षित विषय का विवरण प्रस्तुत करते हैं। 'ऊहः' पद 'ऊह' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर बना है, जिसका अर्थ है-विविध प्रकार का तर्क। जिस विषय को व्यक्ति तात्त्विकरूप से नहीं जानता, उसके जानने की इच्छा अवसर आने पर पैदा होती है। वह चाहता है—मैं इस विषय को जानूँ। जिस विषय को वह जानना चाहता है, उसमें परस्पर-विरुद्ध दो धर्म उसे प्रतीत होरहे हैं। उनपर वह अलग-अलग विचार करता है—क्या इस पदार्थ को प्रतीयमान इस धर्म के अनुसार मानाजाय, अथवा दूसरे धर्म के अनुसार? जब वह उन दोनों विरुद्ध धर्मों के विषय में इसप्रकार गम्भीरता से मनन व चिन्तन करता है, तब वह जिज्ञासित विषय के प्रतीयमान विरुद्ध धर्मों में से एक धर्म की स्वीकृति के लिए कतिपय तर्कपूर्ण कारणों को देखता है। वह तर्क के आधार पर चिन्तन की इस स्थिति में आजाता है कि अमुक पदार्थ में यह धर्म मानने के लिए कुछ प्रमाण व हेतु उपलब्ध हैं, तब इसको ऐसा मानना चाहिये, अन्य प्रकार का नहीं।

इस प्रसंग को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने व समझने के लिए जिज्ञासा करनेवाले 'ज्ञाता' को प्रथम दृष्टान्तरूप में सामने रखते हैं। जिज्ञासा करनेवाला यह ज्ञाता—आत्मा तात्त्विकरूप से क्या है? यह मैं जानूँ, स्वयं को जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा करनेवाले को देह—इन्द्रिय आदि संघात के रूप में देखकर विचार उत्पन्न होता है कि ज्ञाता आत्मा को उत्पत्तिधर्मक मानना चाहिए, अथवा अनुत्पत्तिधर्मक? सामने दीखनेवाले देहेन्द्रियादि तो उत्पत्तिधर्मक हैं। ऐसा मानने पर इस ज्ञाता को यह देहादिरूप फल अपने किये कर्मों का नहीं मिला। कर्म किये बिना विभिन्नरूप में देहादि फलप्राप्ति अवाञ्छनीय है। तब ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानना युक्त होगा।

ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानने का तात्पर्य है–ज्ञाता आत्मा नित्य पदार्थ है। वर्त्तमान देहादि की प्राप्ति के पहले ज्ञाता का अस्तित्व था। पूर्वदेहादि-सम्बन्ध में किये कर्मों के अनुसार ज्ञाता को वर्त्तमान देहादिरूप फल प्राप्त हुआ है। ऐसी मान्यता में ज्ञाता अपने किये कर्मों का फल प्राप्त कररहा है; यह वाञ्छनीय स्थिति स्पष्ट होजाती है, जो ज्ञाता के देहादिसम्बन्ध–असम्बन्धरूप जन्म-मरण के अनवरत अनुक्रम का बोध कराती है। यह ज्ञाता का संसारसम्बद्ध-रूप है। श्रेष्ठ कर्म और अध्यात्ममार्ग पर निरन्तर चलते रहने से कालान्तर में जब ज्ञाता को अपने तात्त्विकरूप का साक्षात्कार होजाता है; तब उस तत्त्वज्ञान से वह मिथ्याज्ञान नष्ट होजाता है, जो ज्ञाता को देहादिसम्बन्ध में लाने का कारण है। मिथ्याज्ञान के नाश होजाने से दोष, प्रवृत्ति और आगे देहादिसम्बन्ध-रूप जन्म नहीं रहते। तब सांसारिक दुःखों का उच्छेद होजाता है। यह ज्ञाता की अपवर्ग दशा कहीजाती है। इसप्रकार ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानने पर संसार और अपवर्ग की व्यवस्था का सामञ्जस्य उपपन्न होता है, जो ज्ञाता को उत्पत्तिधर्मक मानने में कदापि सम्भव नहीं।

यदि ज्ञाता–आत्मा को उत्पन्न हुआ मानाजाता है, तो देह, इन्द्रिय, बुद्धि, सुख, दुःख आदि के साथ उसके सम्बन्ध को, उसके अपने किये कर्मों का फल नहीं कहाजासकता। फिर यह भी है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है, उत्पन्न होने के अनन्तर कभी समय आयेगा, जब वह नहीं रहेगी। अपनी विद्यमान अवस्था में उत्पन्न ज्ञाता ने जो कर्म किये हैं, ज्ञाता के न रहने पर उन कर्मों का फल भोगनेवाला कोई न होगा। वे कर्म निष्फल होजायेंगे। शास्त्रीय अथवा बौद्धिक स्थिति पर यह एक बड़ा दोष मानाजाता है कि एक समय विना कर्मों के कुछ प्राप्त होजाय, और दूसरी ओर किये कर्मों का कोई फल न मिले। इस दोष को 'अकृताभ्यागम' और 'कृतहानि' कहाजाता है। अकृत का अभ्यागम–प्राप्ति और कृत की हानि। ऐसी दशा में यह कदापि सम्भव नहीं कि एक नित्य ज्ञाता–आत्मा का अनेक शरीरों के साथ संयोग और वियोग मानाजाय।

इसप्रकार तर्क का प्रयोग जिज्ञासु को इस स्तर पर पहुँचा देता है–दो विरोधी परिस्थितियों में से जिसमें प्रमाण उपपन्न हों, उसे स्वीकार करलेना चाहिए; उससे भिन्न की उपेक्षा करदेनी चाहिए।

प्रथम कहागया–सूत्र में लक्षणपद केवल 'ऊहः' है। लक्ष्यपद 'तर्कः' है। सूत्र के प्रथम पद 'अविज्ञाततत्त्वे अर्थे' तर्क के विषय का निर्देश करते हैं, जिसमें तर्क प्रवृत्त होता है। 'कारणोपपत्तितः' कारण की सम्भावना का और 'तत्त्व-ज्ञानार्थम्' पद तर्क के फल का निर्देश करते हैं। इससे स्पष्ट होता है, तर्क स्वयं तत्त्वज्ञान का स्तर नहीं है। तत्त्वज्ञान वह स्थिति है, जहाँ वस्तु का निर्धारण

होजाता है। तर्क का क्षेत्र वहीं तक है, जहाँ वस्तु-सिद्धि के लिए उपयुक्त कारण की सम्भावना उभर आती है। तत्त्वज्ञान अथवा वस्तु-विषयक निर्णय तो उपयुक्त प्रमाणों की उपस्थिति पर होता है।

सामने उठता हुआ धुआँ देखकर तर्क जागता है–यदि उस प्रदेश में आग न होती, तो धुआँ उठता हुआ दिखाई न देता। अथवा तर्क का रूप होगा–यदि धुआँ आग के विना होजाया करता, तो आग से उत्पन्न हुआ न होता। तब उस प्रदेश में आग होनी चाहिए। यहाँ तर्क धुआँ और आग के कार्यकारणभाव को अभिव्यक्त करता है। इसीप्रकार व्याख्या में प्रस्तुत तर्क का उदाहरण देहादि फल और कर्म के कार्य-कारणभाव की अभिव्यक्ति करता है।

इसलिए तर्क स्वयं तत्त्वज्ञान न होकर तत्त्वज्ञान के लिए है, तत्त्वज्ञान में सहयोगी है। प्रमाणों को बल देता है। प्रमाणों को अपना कार्य करने के लिए–उनके मार्ग में आये संशयादि कचरे को हटाकर–मार्ग को स्वच्छ करता है; इसी रूप में तर्क तत्त्वज्ञान के लिए सहयोगी मानाजाता है। इसी सहयोग के आधार पर वाद-कथा [सूत्र १ । २ । १] में अर्थ की सिद्धि एवं प्रतिषेध के लिए प्रमाण के साथ तर्क को पढ़ागया है। इसप्रकार तर्क के सहयोग से जिज्ञासु वस्तु-तत्त्व को जानने के लिए अपना मार्ग प्रशस्त करलेता है ॥ ४० ॥

'निर्णय' का लक्षण—तर्क-विषयक विवरण के अनन्तर तर्क-क्षेत्र की सीमा से लगे निर्णय के विषय में सूत्रकार ने क्रम का आदर करते हुए बताया—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

[विमृश्य] संशयपूर्वक तर्कद्वारा विचार करने के अनन्तर [पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्] पक्ष और प्रतिपक्ष के प्रयोग से [अर्थावधारणम्] एक अर्थ का निर्धारण [निर्णयः] निर्णय कहाजाता है।

एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्म प्रतीत होने पर संशय उत्पन्न होजाता है–इस वस्तु का यथार्थ स्वरूप क्या है? तर्क के आधार पर दोनों ओर हेतु की खोज होती है। अनन्तर पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में उन हेतुओं को प्रस्तुत कर अपने कथन की सिद्धि और दूसरे के कथन का प्रतिषेध कियाजाता है। उनमें से किसी एक के प्रतिषिद्ध होजाने से वह निवृत्त होजाता है, जो शेष रहता है, वह अर्थ का अवधारण–निश्चय है। उसीका नाम है–निर्णय। निर्णय का यह प्रकार उसी अवसर के लिए है, जहाँ पक्ष-प्रतिपक्ष के द्वारा चर्चा करके विषय का अवधारण–निश्चय कियाजाता है। ऐसी चर्चा में अपने पक्ष की स्थापना और दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध–दोनों वादी-प्रतिवादिओं द्वारा अनुक्रम [लगातार सिलसिले] से–कियाजाता है।

पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों से निर्णय का विवेचन—आशंका होती है—पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों से अर्थ का अवधारण होना नहीं मानाजाना चाहिये, क्योंकि दोनों में से एक की सिद्धि और दूसरे का प्रतिषेध अवश्यम्भावी है। जिसका प्रतिषेध होगया, वह निवृत्त होजाता है; जो अवस्थित रहगया, निर्णय का स्वरूप उसीसे अभिव्यक्त होता है। इसलिए पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में से उस एक को निर्णय का आधार मानना चाहिए, जो अवस्थित रहगया है।

समाधान—सूत्रकार ने 'पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्' कहा है, 'पक्ष-प्रतिपक्षयोरन्यतरेण' नहीं कहा। इसके अनुसार निर्णय दोनों के द्वारा प्रकाश में आता है। कारण यह है कि पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में से जब एक का सम्भव-सिद्ध होना, और दूसरे का असम्भव—असिद्ध होना स्थिर—निश्चित होजाता है, तब एक का सम्भव और दूसरे का असम्भव होना, ये दोनों मिलकर संशय की निवृत्ति करते हैं। यदि दोनों सिद्ध रहें, अथवा दोनों असिद्ध होजायें, तो संशय बना रहता है। संशय की निवृत्ति तभी होती है, जब एककोटिक ज्ञान निर्धारित होजाता है।

यदि किसी धर्मी में हेतु के बल पर दो विरुद्ध धर्मों का होना सिद्ध होता है, तो वहाँ धर्मों का समुच्चय मानलेना चाहिए। जैसे कहागया—'क्रियावद् द्रव्यम्' द्रव्य क्रियावाला होता है। यहाँ सामान्यधर्मी द्रव्य है, उसका धर्म 'क्रियावत्त्व' [क्रियावाला होना] बतलाया। परन्तु प्रत्येक द्रव्य क्रियावाला नहीं होता, जो व्यापक द्रव्य हैं—आकाश आदि, उनमें किसी प्रकार की गति आदि क्रिया का होना सम्भव नहीं। इसलिए द्रव्यत्व सामान्य से युक्त जो धर्मी हैं—द्रव्यमात्र, वहाँ किसी द्रव्य में क्रिया होती है, जो एकदेशी द्रव्य हैं; किन्हीं में क्रिया नहीं होती, जो विभु द्रव्य हैं। फलतः 'द्रव्यत्व' जातियुक्त द्रव्य—धर्मी में व्यक्तिभेद से दो विरुद्ध धर्म 'सक्रियत्व' और 'अक्रियत्व' रहजाते हैं। एकदेशी एक द्रव्य में भी कालभेद से 'अक्रियत्व' एवं 'सक्रियत्व' दोनों धर्म सम्भव हैं। जब द्रव्य में क्रिया होरही हो, तब 'सक्रिय' और जब तक उसमें क्रिया उत्पन्न नहीं हुई, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो चुकी है, तब वही द्रव्य 'अक्रिय' रहता है।

'निर्णय' पक्ष-प्रतिपक्ष के विना—निर्णय के विषय में यह एक बात और समझे रहनी चाहिए—प्रत्येक निर्णय के लिए आवश्यक नहीं होता कि वहाँ संशय के अनन्तर पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निर्धारण होता हो; ऐसा वहीं होता है, जहाँ दो व्यक्तियों में परस्पर चर्चा द्वारा किसी सन्दिग्ध अर्थ के निर्धारण के लिए प्रयास कियाजाता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान में अर्थ का अवधारण—निर्णय, विना संशय व पक्ष-प्रतिपक्ष प्रयोग के होजाता है। इसीप्रकार शास्त्र के अध्ययन से तथा गुरु आदि सदुपदेष्टा के

उपदेश से जो अर्थ का निश्चय होजाता है, वह भी ऐसा ही है। तात्पर्य है–संशय एवं पक्ष-प्रतिपक्ष की अपेक्षा वहीं होती है, जहाँ अनुमान-प्रमाण के द्वारा अर्थ का निर्णय कियाजाता है। जहाँ प्रत्यक्ष अथवा शब्दप्रमाण से अर्थ का अवधारण होता है, वहाँ संशय आदि अनपेक्षित हैं॥ ४१ ॥

इति श्री गौतमीयन्यायसूत्राणां विद्योदयभाष्ये
प्रथमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

[कथाप्रकरणम्]

वाद-कथा—अनुमान-प्रमाण द्वारा किसी अर्थ का निर्णय पारस्परिक कथा-चर्चा पर आधारित है। कथा तीन प्रकार की रहती हैं–वाद, जल्प, वितण्डा। उनमें क्रमप्राप्त वाद-कथा का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ १ ॥ (४२)

[प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः] प्रमाण और तर्क से साधन तथा उपालम्भ–प्रतिषेध (जिस कथा में हों) [सिद्धान्ताविरुद्धः] सिद्धान्त के विरुद्ध कथन न हो [पञ्चावयवोपपन्नः] प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से युक्त हों [पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहः] जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष को व्यवस्थानुसार स्वीकार कियागया हो, उस कथा का नाम [वादः] 'वाद' है।

सूत्र में 'परिग्रह' पद का अर्थ है–परस्पर चर्चा के लिए निर्धारित किये-गये नियम आदि का स्वीकार। एक अधिकरण में प्रतीयमान दो विरुद्ध धर्म यहाँ 'पक्ष-प्रतिपक्ष' पदों से ग्राह्य हैं। तात्पर्य हुआ एक अधिकरण में दो विरुद्ध धर्मों को लक्ष्यकर निर्धारित नियमों के अनुसार जो चर्चा-कथा कीजाती है, वह 'वाद' नामक कथा है। 'वाद' का आपातस्वरूप सूत्र के इतने भाग से प्रतिफलित हो-जाता है। सूत्र का शेष भाग 'वाद' के तीन विशेषण हैं, जो उसकी प्रक्रिया के विषय में निर्देश देते हैं। पहला विशेषण है—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः—वाद-कथा में भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने पक्ष की स्थापना प्रमाण और तर्क के

आधार पर करे। इसीप्रकार दूसरे के द्वारा कियेगये अपने पक्ष की स्थापना का उपालम्भ-प्रतिषेध भी वह प्रमाण और तर्क के आधार पर करे। इसीके अनुसार दूसरा प्रतिवादी भी अपने मत की स्थापना एवं दूसरे (वादी) के स्थापित मत का प्रतिषेध प्रमाण और तर्क के आधार पर प्रस्तुत करे।

सिद्धान्ताविरुद्धः—वादी अथवा प्रतिवादी ने जिस सिद्धान्त को स्वीकृत कर वादकथा के रूप में चर्चा प्रारम्भ की है, उस सिद्धान्त के विरुद्ध न कहकर अनुकूल बात कही जानी चाहिए। वादकथा प्रायः गुरु-शिष्य, उपदेष्टा-जिज्ञासु तथा साथ पढ़नेवाले छात्रों में परस्पर होती है। सिद्धान्त के विषय में पूर्ण जानकारी न होने से चर्चा के ऐसे प्रसंगों में कभी सिद्धान्त के विरुद्ध कोई बात कहीजासकती है। सिद्धान्त के विरुद्ध कहेजाने से वह कथन विरुद्ध हेत्वाभास की सीमा में आजाता है, हेत्वाभास निग्रहस्थान में गिनेगये हैं। कथा में छल, जाति और निग्रहस्थान के प्रयोग से स्वपक्ष-साधन और परपक्ष का प्रतिषेध होना 'जल्प' कथा की कोटि में आता है, वह 'वाद'-कथा का स्वरूप नहीं रहता। सूत्र के इस दूसरे विशेषण के आधार पर सूत्रकार ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि उक्त प्रकार यदि चर्चा में सिद्धान्त के विरुद्ध बात कहीजाय, तो ऐसा कथन वाद कथा की सीमा को लाँघता नहीं। उसे जल्पकथा की कोटि में न लेजाकर वाद-कथा ही समझना चाहिए। इसप्रकार विरुद्ध हेत्वाभासरूप निग्रह-स्थान का प्रयोग होजाना वाद-कथा में स्वीकृत है।

पञ्चावयवोपपन्नः—स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के प्रतिषेध के लिए ऐसी चर्चाओं में अनुमान-प्रमाण का आश्रय लियाजाता है। वाद के इस तीसरे विशेषण से यह स्पष्ट किया कि अनुमान-प्रमाण का प्रयोग प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से उपपन्न—युक्त होना चाहिए। इस निर्देश से सूत्रकार ने यह तात्पर्य प्रकट किया कि उक्तप्रकार से यदि शिष्य या जिज्ञासु आदि द्वारा अनुमान के प्रयोग में किसी अवयव का कथन नहीं होता, अथवा किसी अवयव का अधिक कथन होजाता है, तो यह 'हीन' एवं 'अधिक' नामक निग्रहस्थान की कोटि में आजाता है। फिर भी इस कथा को 'जल्प' न मानकर 'वाद' मानना चाहिए। इसप्रकार 'हीन' और 'अधिक' नामक निग्रहस्थान के प्रयोग का होजाना 'वाद' में स्वीकार करलिया गया है।

इस व्यवस्था के अनुसार प्रमाण एवं तर्क आदि के आधार पर अपने पक्ष की सिद्धि और दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध, वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए समानरूप से लागू होते हैं। यह चर्चा उस समय तक चालू रहती है, जबतक दोनों पक्षों में से कोई एक निवृत्त, और दूसरा व्यवस्थित नहीं होजाता। जो निवृत्त हुआ, उसका प्रतिषेध होगया; जो व्यवस्थित रहगया, वह सिद्ध होगया।

आशंका होती है–अवयवों में सब प्रमाणों एवं तर्क का समावेश रहता है, जैसा कि अवयव-निरूपण प्रसंग में कहागया है, तब 'पञ्चावयवोपपन्नः' इतना कहने से कार्य चलजाता, सूत्र में पृथक् 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' कथन का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—ऐसी चर्चा में प्रत्येक पक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रमाण व तर्क के आधार पर अपने पक्ष की सिद्धि और दूसरे पक्ष का प्रतिषेध प्रस्तुत करे। यदि सूत्र में इस पद को नहीं रक्खाजाता, तो स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के प्रतिषेध की भावना अभिव्यक्त नहीं होती; उस दशा में स्थापना की भावना से प्रवृत्त हुए दोनों पक्ष 'वाद' मानलियेजाने चाहिएँ; जो अवाञ्छनीय है। 'वाद'-कथा का स्वरूप तभी सम्पन्न होता है, जब एक का साधन और दूसरे का प्रतिषेध होजाय। यह स्थिति उक्त पद के रखने पर अभिव्यक्त होती है।

इसके अतिरिक्त यह एक बात है कि प्रतिज्ञा आदि अवयवों के प्रयोग के बिना–प्रत्यक्ष एवं शब्दप्रमाणों से–अर्थ की सिद्धि होती है। इससे भी वाद-कथा में साधन और उपालम्भ सम्भव हैं। ऐसा प्रसंग उन अवसरों पर आता है, जहाँ शिष्य अथवा जिज्ञासु किसी अर्थ को समझने के लिए गुरु अथवा उपदेष्टा से चर्चा करते हैं। तात्पर्य है–सूत्र के प्रथम पद के अन्तर्गत 'प्रमाण' पद अनुमान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष एवं शब्द-प्रमाण का भी संकेत करता है, जो 'पञ्चावयवोपपन्नः' पद के प्रयोगमात्र से सम्भव नहीं।

एक बात और है, आगे जल्प-कथा में छल-जाति-निग्रहस्थान से स्वपक्ष-साधन और परपक्ष के प्रतिषेध का कथन किया है। इससे यह न समझना चाहिए कि जल्प-कथा में केवल छल आदि के द्वारा साधन–उपालम्भ होता है, और प्रमाणतर्क के द्वारा केवल वाद में। प्रत्युत जल्प-कथा में भी प्रमाण और तर्क से साधन व उपालम्भ उसीप्रकार कियेजाते हैं, जैसे वाद-कथा में। यदि प्रस्तुत सूत्र में 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' पद नहीं रक्खाजाता, तो जल्प-कथा में प्रमाण तर्क से साधन-उपालम्भ की उपपत्ति नहीं कीजासकेगी। इसीकेलिए जल्प-लक्षण के सूत्र में 'यथोक्तोपपन्नः' कहा है। तात्पर्य है–वादकथा की समस्त प्रक्रिया का उपपादन जल्प-कथा में होता है। फलतः सूत्र में प्रथम पद का निर्देश आवश्यक है ॥ १ ॥

'जल्प'-कथा का स्वरूप—कथा के दूसरे प्रकार 'जल्प' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ २ ॥ (४३)

[यथोक्तोपपन्नः] जैसा कहा है–वाद-कथा में–उससे उपपन्न–युक्त, तथा [छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः] छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा जिस कथा में स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का उपालम्भ हो, वह [जल्पः] 'जल्प' नामक कथा है।

गतसूत्र के लक्ष्य पद को छोड़कर शेष समस्त सूत्र यहाँ अनुवृत्त होता है। यह 'यथोक्तोपपन्नः' सूत्र पद से निश्चित है। वादकथा की सब व्यवस्था यथापेक्षित जल्पकथा में लागू होती है। इसके अनुसार जल्पकथा में प्रमाण एवं तर्क से स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का प्रतिषेध, अपने स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध कोई कथन न कियाजाना, अनुमान के प्रयोग में पाँचों अवयवों का यथायथ उपयोग करना, पक्ष-प्रतिपक्ष की व्यवस्था को स्वीकृत करना—ये सभी बातें जल्पकथा में अपेक्षित रहती हैं। इनके साथ इतना और है कि यहाँ छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा भी साधन-उपालम्भ होता है।

यद्यपि छल आदि से किसी अर्थ का साधन सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके सामान्य लक्षण और विशेष लक्षणों में इनका जो स्वरूप बताया है, उससे इनका प्रयोजन–अर्थ का प्रतिषेध करना ही ज्ञात होता है। जैसे छल के सामान्यलक्षण [१।२।१०] में 'वचनविघातः' पद है, दूसरे के कहे हुए को काटना। जाति के लक्षण [१।२।१८] में 'प्रत्यवस्थानम्' पद है, प्रतिवादी के कथन का प्रतिषेध करना। निग्रहस्थान के लक्षण में 'विप्रतिपत्तिः' और 'अप्रतिपत्तिः' [१।२।१९] पद हैं। विपरीत अथवा निन्दनीय जानकारी का प्रकट करना; तथा अज्ञान का प्रकट करना। प्रतिवादी के कथन को इन रूपों में अभिव्यक्त करना उसके प्रतिषेध को प्रकट करता है। तथापि परपक्ष का प्रतिषेध करने के द्वारा ये छल आदि अपने पक्ष की सिद्धि में सहायक होते हैं; इतने अंश में इनकी साधनता स्वीकार कीजाती है। स्वतन्त्र रूप से ये किसी अर्थ के साधक नहीं होते।

जल्प-कथा में जब प्रमाणों से अर्थ का साधन कियाजाता है, उस समय छल-जाति-निग्रहस्थान के प्रयोग से परपक्ष का प्रतिषेध करने के द्वारा ये छल आदि अपने पक्ष की रक्षा करते हैं। इसप्रकार ये अर्थ-साधक प्रमाणों के सहायक होकर अर्थसिद्धि में औपचारिक रूप से भागीदार समझेजाते हैं। इसी भावना से जल्प और वितण्डा- कथा के विषय में स्वयं सूत्रकार ने आगे कहा है–"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्" [४।२।५०]। जैसे खेत में उपजे अंकुरों की रक्षा के लिए काँटेदार झाड़ियों की बाड़ लगादीजाती है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग है। इसप्रकार प्रमाणों के द्वारा जब परपक्ष का प्रतिषेध कियाजाता है, उस समय प्रतिवादी द्वारा कियेगये स्वपक्षप्रतिषेध में प्रयुक्त हुए छल-जाति-

निग्रहस्थान उस प्रतिषेध का विघात कर स्वपक्ष के साधन में सहकारी होते हैं। फलतः जल्पकथा में प्रमाण आदि के अङ्गभूत हुए छल आदि का उपयोग किया-जाता है। स्वतन्त्ररूप से किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करते, परन्तु प्रतिषेध करने में ये अवश्य स्वतन्त्र रहते हैं॥ २॥

'वितण्डा'-कथा का स्वरूप—क्रमप्राप्त वितण्डा-कथा का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥ (४४)

[सः] वह जल्प [प्रतिपक्षस्थापनाहीनः] प्रतिपक्ष की स्थापना से जब रहित होता है, तब [वितण्डा] 'वितण्डा' कहाजाता है।

जल्पकथा प्रवृत्त होने पर यदि प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं करता, तो वह 'वितण्डा'- कथा का स्वरूप बनजाता है। जल्प में पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों की स्थापना होती है, परन्तु वैतण्डिक अपने पक्ष की स्थापना किये विना परपक्ष के प्रतिषेध में प्रवृत्त रहता है। यदि ऐसा है, तो सूत्रकार ने 'स प्रति-पक्षहीनो वितण्डा' ऐसा सूत्र क्यों नहीं बनादिया ? इसमें वास्तविकता यह है, कि वैतण्डिक का अपना पक्ष तो अवश्य है–परपक्ष का प्रतिषेध करना; परन्तु वह किसी साध्य की प्रतिज्ञा करके हेतु उदाहरण आदिपूर्वक अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता। दूसरे के कथन का प्रतिषेधमात्र करता रहता है। अतः सूत्र की रचना पूर्ण एवं यथार्थ है।

इन तीनों कथाओं में पहली 'वाद'- कथा वस्तुतत्त्व को यथार्थरूप में समझने की भावना से होती है। शेष दोनों कथा पारस्परिक चर्चा में विजय की भावना से कीजाती हैं॥ ३॥

हेत्वाभास के भेद—क्रमप्राप्त हेत्वाभासों का लक्षण बताने की भावना से सूत्रकार ने उनके विभाग का निर्देश किया—

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता[1]
हेत्वाभासाः ॥ ४ ॥ (४५)

[सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः] सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत (ये पाँच प्रकार के) [हेत्वाभासाः] हेत्वाभास हैं।

सूत्र में हेत्वाभास के पाँच प्रकारों का स्पष्ट निर्देश कियागया है। इससे हेत्वाभास के विभाग तो ज्ञात होजाते हैं, परन्तु हेत्वाभास का सामान्य लक्षण या स्वरूप का निर्देश नहीं किया गया, जो होना चाहिये था। वस्तुतः हेत्वाभास का स्वरूप इस पद के निर्वचन से अभिव्यक्त होजाता है, इसलिए यह कहना

---

१. 'साध्यसमातीतकाला' विश्वनाथवृत्तिपाठः।

उपयुक्त न होगा कि यहाँ लक्षण का निर्देश नहीं है, अथवा सूत्रकार ने उसकी उपेक्षा की है।

हेत्वाभास पद का अर्थ है—जो वस्तुतः हेतु न हो, पर हेतु के समान आभास-प्रतीत होरहा हो। हेतु की वास्तविकता है—साध्य को सिद्ध करने का सामर्थ्य। पञ्चम्यन्त आदि पदके रूप में प्रयोग होना—हेतु की समानता है। 'हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासाः' यहाँ 'वति' प्रत्यय हेतुरूप से प्रयुक्त पद को हेतु से भिन्न होना स्पष्ट करता है—जो हेतु के समान दीखता है, पर वस्तुतः हेतु नहीं है, हेतु से भिन्न है। इसप्रकार यह पद स्वयं अपने स्वरूप को स्पष्ट करदेता है ॥ ४ ॥

'सव्यभिचार' हेत्वाभास का लक्षण—विभागसूत्र में प्रथमपठित सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ५ ॥ (४६)

[अनैकान्तिकः] जो हेतु एकत्र व्यवस्थित न हो, वह [सव्यभिचारः] सव्यभिचार नामक हेत्वाभास होता है।

एक अन्त—सिद्धान्त में जो हेतु व्यवस्थित होता है, वह 'ऐकान्तिक' कहाजाता है। जो ऐसा न हो, वह अनैकान्तिक है। हेतु के व्यवस्थित होने का तात्पर्य है—हेतु का साध्य के अधिकरण में रहना, साध्याभाव के अधिकरण में न रहना। जो हेतु साध्याधिकरण में रहता हुआ साध्याभाव के अधिकरण में भी रहता है, वह एकत्र व्यवस्थित नहीं है। ऐसा हेतु सव्यभिचार हेत्वाभास होगा। यह तात्पर्य स्वयं सव्यभिचार पद से अभिव्यक्त होता है। 'व्यभिचार' पद का अर्थ है—एकत्र व्यवस्थित न रहना—विविधरूप से अथवा विभिन्न स्थानों में यहाँ-वहाँ अभिचरण करना; पक्ष और विपक्ष दोनों जगह रहजाना। इस रूप में यह हेत्वाभास 'अनैकान्तिक' तथा 'सव्यभिचार' दोनों नामों से व्यवहृत होता है।

उदाहरण—'नित्यः शब्दः, अस्पर्शत्वात् आत्मवत्', शब्द-पक्ष में नित्यत्व साध्य है, अस्पर्शत्व हेतु है, आत्मा दृष्टान्त। जैसे आत्मा अस्पर्श—स्पर्शरहित होने से नित्य है, वैसे अस्पर्श होने से शब्द नित्य है। यह अन्वयी दृष्टान्त है। इसीको व्यतिरेकी दृष्टान्त के अनुसार ऐसे कहाजायगा—जो पदार्थ अस्पर्श—स्पर्शरहित नहीं हैं, अर्थात् स्पर्शवाले हैं, वे नित्य नहीं होते, अर्थात् अनित्य होते हैं; जैसे घट-पट आदि पदार्थ; परन्तु शब्द वैसा—स्पर्शवाला नहीं है, अतः अनित्य नहीं, प्रत्युत नित्य है।

उक्त दोनों प्रकार के दृष्टान्तों के अनुसार यह हेतु अनैकान्तिक है। अन्वयी दृष्टान्त में अस्पर्श—स्पर्शरहित भी 'बुद्धि' अनित्य है। बुद्धि का अर्थ यहाँ

ज्ञान है, जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अथवा अन्य प्रकार से उत्पन्न होता है। व्यतिरेकी दृष्टान्त में स्पर्शरहित न होता हुआ भी परमाणु नित्य होता है। अतः नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए 'अस्पर्शत्व'-हेतु साधनरूप से प्रस्तुत नहीं कियाजासकता; क्योंकि यह नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में रहता है। नित्यत्व और अस्पर्शत्व का परस्पर साध्य-साधनभाव उपपन्न नहीं होता। सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहने से अनैकान्तिक है; अतः यह साध्य-साधक हेतु न होकर अनैकान्तिक होने से सव्यभिचार हेत्वाभास है।

सव्यभिचार [अनैकान्तिक] के तीन भेद—यह तीन प्रकार का होता है–साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी। पहला वह है, जो सपक्ष-विपक्ष दोनों में रहता है। इसका उदाहरण ऊपर दियाजाचुका है। दूसरा है, जो सपक्ष और विपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो, अर्थात् न सपक्ष में रहता हो, न विपक्ष में, जैसे–'शब्दः नित्यः, शब्दत्वात्'। शब्द अधिकरण में नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए 'शब्दत्व'-हेतु 'असाधारण–अनैकान्तिक' है; क्योंकि यह केवल साध्याधिकरण शब्द में रहता है; न सपक्ष-आत्मा आदि में और न विपक्ष-घट आदि में। तीसरा अनुपसंहारी वह है, जो केवलान्वयि पक्षवाला ऐसा ही सपक्ष–विपक्ष से रहित हेतु हो, जैसे–'सर्वं नित्यं, प्रमेयत्वात्'। यहाँ 'सर्व' पक्ष में नित्यत्व साध्य है, प्रमेयत्व हेतु के साथ उसकी व्याप्ति के उपसंहार के लिए कोई पदार्थ सपक्ष या विपक्ष शेष नहीं रहता, जहाँ निश्चित साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति को प्रस्तुत कियाजासके। 'सर्व' पक्ष होने से सर्वत्रनित्यत्व संदिग्ध है॥ ५॥

'विरुद्ध' हेत्वाभास लक्षण—क्रमप्राप्त विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः॥ ६॥ (४७)

[सिद्धान्तम्] अपने एक सिद्धान्त को [अभ्युपेत्य] स्वीकारकर [तद्विरोधी] उसीका विरोधी हेतु [विरुद्धः] 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास कहाजाता है।

चर्चा के अवसर पर अभिमत पक्ष में किसी साध्यधर्म की सिद्धि के लिए हेतु का निर्देश कियाजाता है। जैसे किसी ने कहा–'अयं प्रदेशः वह्निमान्' निश्चित प्रदेश–पक्ष में 'वह्निमत्त्व' साध्य है। इसकी सिद्धि के लिए प्रस्तुत कियागया–'ह्रदत्वात्' हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास होजाता है। ह्रद का अर्थ तालाब-जलाशय है। वहाँ आग का होना सम्भव नहीं। यह हेतु अग्नि का साधक न होकर अग्नि के अभाव का साधक है। अपने प्रतिज्ञात अर्थ का विरोधी होने से विरुद्ध-हेत्वाभास है। इसका परिणाम निकला–जो हेतु साध्य के अधिकरण अर्थात् सपक्ष में न रहकर विपक्ष में रहता है, वह विरुद्ध-हेत्वाभास है।

इसीप्रकार जब एक वादी यह कहता है कि प्रत्येक विकार [परिणामी पदार्थ] अपनी एक अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में परिणत होजाता है, क्योंकि कोई विकार नित्य नहीं होता, नित्य पदार्थ कभी अवस्थान्तर को प्राप्त नहीं होता— इस मान्यता को स्वीकार कर जब यह कहाजाता है कि अपनी एक अवस्था से अवस्थान्तर में परिणत हुआ भी विकार बनारहता है; क्योंकि किसी पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता — यह कथन पहले उस कथन के विरुद्ध होजाता है, जिसमें यह मानागया है कि कोई विकार नित्य नहीं होता। विकार का नित्य न होना, अर्थात् विनाश को प्राप्त होजाना, तथा विनष्ट होने पर भी बने रहना, यह दोनों कथन परस्पर-विरुद्ध हैं। 'बना रहना' वस्तु की विद्यमानता-सद्भाव को बताता है; और 'विकार का नित्य न होना' वस्तु की अविद्यमानता–असद्भाव को प्रकट करता है। किसी पदार्थ में 'होना' और 'न होना' दोनों विरुद्ध धर्म साथ-साथ सम्भव नहीं। इसप्रकार ये हेतु–'विकारो व्यक्तेरपैति, **'नित्यत्वप्रतिषेधात्'** तथा अपेतोऽपि विकारोऽस्ति, **विनाशप्रतिषेधात्'** ये हेतु परस्पर-विरुद्ध हैं, जिस सिद्धान्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते हैं, उसीका व्याघात करते हैं[1] ॥ ६ ॥

'प्रकरणसम' हेत्वाभास का स्वरूप—सूत्रकार ने क्रमप्राप्त प्रकरणसम हेत्वाभास का स्वरूप बताया—

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥ (४८)

[यस्मात्] जिससे [प्रकरणचिन्ता] चर्चा-प्रसंग द्वारा जिज्ञासा प्रवृत्त हुई है, [सः] वह, जब [निर्णयार्थम्] निर्णय के लिए [अपदिष्टः] कहदियाजाता है, वह [प्रकरणसमः] 'प्रकरणसम' नामक हेत्वाभास मानाजाता है।

चर्चाओं में संशय के आधार पर पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों का चालू रहना 'प्रकरण' है। संशय से लेकर निर्णय होनेके पहले तक जो विवेचन व विचार कियाजाता है, वह किसी जिज्ञासा के आधार पर प्रवृत्त होता है। वह जिज्ञासा जिस कारण से उभरती है, उसीको यदि निर्णय के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत करदियाजाता है, तो यह पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में से किसी एकको न हटासकने के कारण चर्चा–प्रसंग (प्रकरण) को समाप्त नहीं करपाता, क्योंकि वह जिज्ञासा का उत्प्रेरक होने से दोनों पक्षों के लिए समान होता है। ऐसा हेतु 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहाजाता है। यह निर्णय के लिए समर्थ नहीं होता।

---

१. यह सांख्यसिद्धान्त का विवेचन उसके याथार्थ्य की उपेक्षा करते हुए वात्स्यायन-भाष्य में प्रस्तुत कियागया है।

जैसे किसीने कहा–'शब्दः अनित्यः, नित्यधर्मानुपलब्धेः'। शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्य के धर्म उपलब्ध नहीं होते। इसीके समान प्रतिवादी ने कहा–'शब्दः नित्यः, अनित्यधर्मानुपलब्धेः', शब्द नित्य है, क्योंकि वहाँ अनित्य पदार्थ के धर्म उपलब्ध नहीं होते। शब्द में नित्य एवं अनित्य का संशय होने पर विशेष निर्णय की अपेक्षा प्रकरण को प्रवृत्त करती है; नित्य एवं अनित्य दोनों धर्मों की शब्द में अनुपलब्धि प्रकरण-प्रवृत्ति का कारण है; उसको निर्णय के लिए प्रस्तुत करना 'प्रकरणसम' हेत्वाभास है, क्योंकि उससे प्रकरण की समाप्ति नहीं होती। यदि इनमें से–नित्य या अनित्य–किसी एक के धर्मों को शब्द में जानलियाजाता है, तो प्रकरण अर्थात् चर्चा का प्रसंग समाप्त होजाता है। अतः उक्त हेतु दोनों पक्षों को प्रवृत्त रखने के कारण किसी एक के निर्णय के लिए समर्थ न होने से प्रकरणसम हेत्वाभास है।

'प्रकरणसम' का 'अनैकान्तिक' से भेद—यद्यपि अनैकान्तिक हेत्वाभास के प्रसंग में प्रस्तुत हेतु किसी एक पक्ष के निर्णय में असमर्थ होता है, क्योंकि वह सपक्ष-विपक्ष दोनों में समानरूप से विद्यमान रहता है। तथापि, अनैकान्तिक से प्रकरणसम का भेद इसप्रकार समझना चाहिये—अनैकान्तिक में सपक्ष-विपक्षवृत्ति एक ही धर्म हेतुरूप से प्रस्तुत होता है। जैसे–'पर्वतो धूमवान्, वह्निमत्वात्'। यहाँ वह्नि हेतु एकमात्र धर्म, धूम के भाव और अभाव दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। काष्ठ आदि ईंधन से संयुक्त होने पर आग के साथ धुआँ रहता है; परन्तु दहकते अंगारे और तप्त लौहपिण्ड आदि के साथ धुआँ नहीं रहता। इसप्रकार वह्नि-हेतु धूम की सिद्धि में अनैकान्तिक है।

इसके विपरीत प्रकरणसम में बराबरी का दूसरा हेतु प्रस्तुत कियाजाता है; एक ही हेतु साध्य एवं साध्याभाव के अधिकरण में अथवा सपक्ष-विपक्ष में उभयत्र विद्यमान रहता हो, ऐसा नहीं है। जैसे उक्त उदाहरण में सपक्ष-विपक्ष के पृथक् दो हेतु–'नित्यधर्मानुपलब्धेः' तथा 'अनित्यधर्मानुपलब्धेः' प्रस्तुत कियेगये हैं। नव्य आचार्यों ने ऐसे आधार पर इस हेत्वाभास को 'सत्प्रतिपक्ष' नाम दिया है। जिस हेतु के साध्याभाव का साधक बराबर का हेतु विद्यमान हो, वहाँ पहला हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास मानाजाता है। प्रतियोगी शत्रु उपस्थित रहने पर वह अपना कार्य करने में असफल रहता है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी सद्धेतु भी हेत्वाभास मानलियाजाता है, जब वादी अपनी असमर्थता के कारण प्रतिवादी के द्वारा प्रस्तुत हेतु का प्रत्याख्यान नहीं करपाता ॥ ७ ॥

'साध्यसम' का लक्षण—क्रमप्राप्त साध्यसम हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

साध्याविशिष्टः[1] साध्यत्वात् साध्यसमः ॥ ८ ॥ (४९)

[साध्याविशिष्टः] जो साध्य से भेद न रखता हो (साध्य के समान हो), ऐसा हेतु स्वयं [साध्यत्वात्] साध्य होने के कारण [साध्यसमः] 'साध्यसम' नामक हेत्वाभास कहाजाता है।

ऐसा धर्म, जो स्वयं अभी साध्य है, उसको यदि साधन के रूप में प्रस्तुत करदियाजाता है, तो वह साधक हेतु न होकर हेत्वाभास रहता है। प्रस्तुत हेत्वाभास का यह नाम–'साध्यसम' स्वतः अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। स्वयं असिद्ध धर्म अन्य का साधन कैसे होगा? इसी आधार पर नव्य आचार्यों ने इसे 'असिद्ध' हेत्वाभास नाम दिया है।

असिद्ध [साध्यसम] हेत्वाभास के भेद—यह तीन प्रकार का माना है—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध—हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष जहाँ असिद्ध हो, वह हेतु 'आश्रयासिद्ध हेत्वाभास' मानाजाता है। जैसे–'काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्', सुवर्ण का पहाड़ आगवाला है, यहाँ हेतु का आश्रय 'सोने का पहाड़' असिद्ध है। ऐसा पहाड़ किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। वहाँ अग्नि साध्य के समान स्वयं वह आश्रय भी साध्य है। इसके अन्य उदाहरण–'खपुष्पं सुगन्धि, पार्थिवत्वात्' आदि कल्पना कियेजासकते हैं।

स्वरूपासिद्ध—जो हेतु स्वरूप से असिद्ध है; प्रस्तुत कियागया ऐसा हेतु 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास होता है। जैसे—'जलाशयः द्रव्यम्, धूमात्' यहाँ जलाशय पक्ष (आश्रय) में धूम का होना स्वरूप से असिद्ध है। तालाब में धूम का होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इस प्रसंग का–वात्स्यायनभाष्य में प्रस्तुत–उदाहरण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का इस प्रकार है–'छाया द्रव्यम्', गतिमत्त्वात्'—छाया द्रव्य है, गतिवाला होने से। छाया में गतिमत्त्व स्वरूप से असिद्ध है। छाया गतिवाली है, या चलती है, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जैसे छाया में द्रव्यत्व साध्य है, ऐसे गतिमत्त्व साध्य है; अतः यहाँ 'गतिमत्त्व' स्वरूपासिद्ध साध्यसम हेत्वाभास है।

देखना चाहिये, छाया वस्तुतः क्या है? यह स्पष्ट है–चलते हुए आवरक द्रव्य से अथवा चलते प्रकाश के मध्य में आये आवरक द्रव्य से जो भूभाग अथवा भित्ति आदि का भाग आवृत होजाता है, ढकजाता है, वहाँ उस-उस प्रदेश के साथ प्रकाश का सान्निध्य–सम्बन्ध नहीं रहता; प्रदेश के साथ प्रकाश का सान्निध्य न रहना छाया है; वह कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। छाया में गति का प्रतीत होना स्पष्ट भ्रान्ति है। वह गति प्रकाश अथवा प्रकाश के

---

१. यहाँ 'च' अधिक पाठ है। न्या० नि०।

आवरण में होती है। प्रकाश की असन्निधिरूप छाया में उसका आरोप करलियाजाता है। फलतः छाया में गतिमत्त्व स्वरूप से असिद्ध होनेके कारण यह प्रस्तुत प्रसंग में 'स्वरूपासिद्ध–साध्यसम' हेत्वाभास है।

व्याप्यत्वासिद्ध—यह साध्यसम हेत्वाभास वहाँ है, जहाँ हेतु और साध्य का अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य नहीं होता। जैसे–'पर्वतो धूमवान्, वह्नेः' यहाँ धूम साध्य और वह्नि हेतु है। यह वह्नि-हेतु दहकते अंगार आदि में धूम को छोड़कर भी रहजाता है, इसलिए वह्नि-हेतु, धूम-साध्य का व्यभिचारी है। इनका अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य न होने से धूम-साध्य के लिए वह्नि-हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास है।

अन्य उदाहरण–'स श्यामः, मित्रातनयत्वात्' वह श्याम है, मित्रा का लड़का होने से। यहाँ 'मित्रातनयत्व'-हेतु श्याम का व्यभिचारी है, क्योंकि मित्रा का अन्य तनय श्याम (साँवला) नहीं है। जो मित्रा का तनय है, वह श्याम है, यह व्यभिचरित व्याप्ति है। हेतु-साध्य का अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य न होने से प्रस्तुत हेतु, साध्यसम हेत्वाभास है। मित्रा के सब तनय (बालक) साँवले हैं, यह सिद्ध कहाँ है ?

नव्य आचार्यों ने व्याप्यत्वासिद्ध का लक्षण–हेतु-साध्य के व्यभिचरित सम्बन्ध का आश्रयकर–इसप्रकार किया है–'सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः' जिस हेतु में उपाधि लगजाय, वह व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है। 'उपाधि' वह धर्म है, जिसकी व्याप्ति साध्य के साथ बनजाय, तथा साधन के साथ न बने–'साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः'। ऊपर कहे प्रथम उदाहरण में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। काष्ठ, कोयला आदि ईंधन के साथ आग का सद्यस्क सम्बन्ध धूम को पैदा करता है। इस स्थिति को उक्त उपाधिधर्म से कहागया है। प्रथम उदाहरण में धूम साध्य और वह्नि साधन (हेतु) है। इस उपाधि धर्म की–साध्य-धूम के साथ–व्याप्ति पूर्णरूप से समञ्जस होती है–जहाँ धूम है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग अवश्य रहता है। यह व्यवस्था वह्नि-साधन के साथ नहीं–जहाँ वह्नि है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग हो, यह आवश्यक नहीं है; जैसे दहकते अंगार आदि में। यहाँ वह्नि है, आर्द्रेन्धन–संयोग नहीं। अतः प्रस्तुत उदाहरण में 'वह्नि' हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

द्वितीय उदाहरण में 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि है। मित्रा ने जब अपनी गर्भावस्था में हरे साग-सब्जी आदि का आहार में अधिक उपयोग किया, तब बालक साँवला होगया; जब ऐसा नहीं किया, तब साँवला नहीं हुआ। अतः मित्रा का तनय होना श्यामता का साधक नहीं; प्रत्युत श्यामता का हेतु 'शाकपाकजन्यत्व' है। प्रस्तुत प्रसंग में साध्य का व्यापक और साधन का

अव्यापक होने से यह उपाधि धर्म–श्यामता-सिद्धि में 'मित्रातनयत्व' हेतु को–व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास प्रमाणित करता है ॥ ८ ॥

'कालातीत' हेत्वाभास का लक्षण—साध्यसम हेत्वाभास के अनन्तर क्रमप्राप्त कालातीत हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ९ ॥ (५०)

[कालात्ययापदिष्टः] काल के अत्यय (बीतजाने) से कहागया हेतु [कालातीतः] 'कालातीत' नामक हेत्वाभास होजाता है।

जिस किसी अर्थ का विचार चालू रहने पर साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रयुक्त कियाजाता है, यदि वह साध्य की सिद्धि के अवसर को लाँघजाता है, तो वह कालातीत हेत्वाभास है। साध्य-सिद्धि के अवसर को लाँघजाने का तात्पर्य साध्य-सिद्धि में हेतु की अक्षमता को प्रकट करना है। हेतु की यह अक्षमता प्रमाणान्तर से साधित होती है। जैसे किसी ने कहा—'वह्निः अनुष्णः, कृतकत्वात्, घटादिवत्'। यहाँ वह्नि पक्ष में 'अनुष्णत्व' साध्य है। प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुष्णत्व का अभाव अग्नि में सिद्ध है। प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होकर 'कृतकत्व' हेतु प्रस्तुत साध्य की सिद्धि के अवसर को खोदेता है। अथवा कहिये मुँह मोड़कर एक ओर हक्का-बक्का खड़ा रहजाता है। इसीका तात्पर्य है–साधनता के अवसर को खोदेना या लाँघजाना।

भाष्यकार ने उदाहरण दिया–'शब्दः नित्यः, संयोगव्यङ्ग्यत्वात्, रूपादिवत्'। शब्द नित्य अर्थात् अवस्थित है, सुनाई देने से पहले भी विद्यमान रहता है। दारु-परशुसंयोग अथवा भेरीदण्डसंयोग से वह अभिव्यक्त (प्रकट) होजाता है। जैसे घर में रक्खे घट-पट आदि रूपवान् द्रव्य अन्धकार में न दीखने पर भी प्रकाश के आने पर अभिव्यक्त होजाते हैं, दिखाई देने लगते हैं, इसीप्रकार नगाड़े (भेरी) पर डण्डे की चोट (संयोग) देने पर अथवा लकड़ी पर कुल्हाड़ा मारने पर जो ध्वनि सुनाई देती है, वह पहले से विद्यमान है; दारु-परशुसंयोग अथवा भेरीदण्ड-संयोग उसे केवल प्रकट करता है, उत्पन्न नहीं; जैसे प्रकाश पहले से अवस्थित रूपादि को प्रकट करता है। वादी ने इसप्रकार अपना पक्ष प्रस्तुत किया।

सिद्धान्ती कहता है, शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिए, 'संयोग-व्यङ्ग्यत्व' हेतु न होकर 'कालातीत' नामक हेत्वाभास है। कारण यह है–पहले से अवस्थित रूपादि पदार्थ उसी समय तक प्रकट रहते हैं, जब तक प्रकाश का सम्बन्ध उनके साथ बना रहता है। परन्तु शब्द के विषय में ऐसी स्थिति नहीं है। दारु-परशुसंयोग अथवा भेरीदण्डसंयोग के न रहने पर भी दूरस्थ व्यक्ति के द्वारा शब्द सुनाई पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है, दारु-परशुसंयोग शब्द का

अभिव्यञ्जक न होकर उत्पादक है। शब्द पहले से अवस्थित नहीं, संयोग से उत्पन्न होता है, तथा शब्दसन्तति द्वारा दूरस्थ पुरुष को—संयोग के न रहने पर भी—सुनाई देता है। इसप्रकार शब्द का सुनाई देना संयोगकाल को अतिक्रमण करजाता है, इससे ज्ञात होता है, 'संयोग' शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं। इसी आधार पर यह कालातीत हेत्वाभास है।

अनुमान द्वारा अभिमत अर्थ की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रमाण के प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का प्रयोग होता है। उनके प्रयोग का एक निर्धारित क्रम है। उस क्रम को लाँघकर अथवा उसका विपर्यय करके प्रयोग करना—सूत्र के कालात्यय पद का—अर्थ नहीं है। क्योंकि प्रतिज्ञा आदि अवयवों को उलट-फेर कर बोलदेने से उनकी अर्थ-साधन-क्षमता में कोई अन्तर नहीं आता। जिस पद या वाक्य का जिस अन्य पद या वाक्य से अर्थ-कृत सम्बन्ध होता है, उस पद या वाक्य के दूर पड़जाने पर भी वह अपने बोध्य अर्थ को प्रकट करने में समर्थ रहता है। जिन पदों का परस्पर अर्थकृत सम्बन्ध नहीं रहता, यदि वे क्रमबद्ध भी पठित हैं, तो भी वे किसी अभिमत अर्थ के बोधक नहीं होते। फलतः यदि हेतु या उदाहरण आदि उचित साधर्म्य या वैधर्म्य के अनुसार क्रमिक स्थान को छोड़कर भी कहेगये हैं, तो इतने से साध्य अर्थ को सिद्ध करने की उनकी क्षमता नष्ट नहीं होजाती। जब साध्य के प्रति साधनता का वह परित्याग नहीं करता, तो वह हेत्वाभास नहीं होसकता।

इसके अतिरिक्त अवयवों का विपर्यास से कथन करना 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान [सूत्र ५।२।११] में परिगणित करदियागया है। चर्चा के अवसरों पर वादी या प्रतिवादी की घबराहट से ऐसा होजाया करता है। यह स्थिति वक्ता की दुर्बलता को प्रकट करने के कारण निग्रहस्थान का प्रयोजक है। उसीको पुनः हेत्वाभास के रूप में प्रस्तुत करना व्यर्थ है॥ ९॥

'छल' का लक्षण—हेत्वाभास-निरूपण के अनन्तर क्रमप्राप्त छल का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्॥ १०॥ (५१)

[वचनविघातः] अन्य के कहेगये कथन की काट करना [अर्थविकल्पोपपत्या] अर्थ की विविध अथवा विरुद्ध कल्पना को उभारदेने के द्वारा, [छलम्] 'छल' मानाजाता है।

किसी वक्ता ने एक बात कही, उसके कथित पद या पदों के विविध अर्थ—अथवा वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ—की कल्पना करके वक्ता के कथन की काट करना 'छल' मानाजाता है। छल तीन प्रकार का होता है। छल के उदाहरण उन भेदों के अनुसार उस-उस विभाग के विवरण-प्रसंग में समझने चाहियें॥ १०॥

'छल' के भेद—छल के तीन भेद या विभाग इसप्रकार हैं—

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचार-च्छलं च ॥ ११ ॥ (५२)

[तत्] वह छल [त्रिविधम्] तीन प्रकार का है—[वाक्छलम्] वाक्छल, [सामान्यच्छलम्] सामान्यछल, [उपचारच्छलम्] उपचारछल [च] और।

वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल, बस ये तीन प्रकार के छल चर्चाप्रसंगों में व्यवहृत होते रहते हैं। ११ ॥

'वाक्छल' का लक्षण—उनमें सर्वप्रथम वाक्छल का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

अविशेषाऽभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥ १२ ॥ (५३)

[अविशेषाऽभिहिते] सामान्यरूप से कहेगये [अर्थे] अर्थ-कथन में [वक्तुः] वक्ता के [अभिप्रायात्] अभिप्राय से [अर्थान्तरकल्पना] अन्य अर्थ की कल्पना [वाक्छलम्] वाक्छल है।

उच्चारण में अनेक वाक्य अथवा पद ऐसे होते हैं, जिनके एकाधिक अर्थ रहते हैं। वे सभी अर्थ शक्तिबोध्य हैं, मुख्य हैं। उस पद या वाक्य को बोलकर वक्ता का तात्पर्य किसी एक विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करना होता है। सामान्यरूप से अर्थ का कथन होने पर भी विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति के कारण वहाँ विद्यमान रहते हैं। उन कारणों की उपस्थिति में वक्ता के अभिप्राय को समझलेना कठिन नहीं होता, न उसमें किसीप्रकार के सन्देह का अवकाश रहता है। फिर भी जानबूझकर केवल वक्ता के कथन को काटने की भावना से कथित पदों के अन्य अर्थ की कल्पना कर वक्ता के कथन को झुठलाया जाता है।

जैसे किसी ने कहा—'नवकम्बलोऽयं माणवकः'। यह बालक—छात्र 'नव-कम्बल' है। यह पद समासयुक्त है। इसमें 'नव' शब्द के दो अर्थ हैं—नया, और नौ संख्या। इस पद के प्रयोग में वक्ता का तात्पर्य है—'नवः कम्बलोऽस्य' इसका कम्बल नया है। परन्तु छलवादी वक्ता के अभिप्राय को जानता हुआ कहता है—आपने क्या कहा ? इसके पास नौ कम्बल हैं ? नौ कम्बल कहाँ हैं, इसके पास तो एक कम्बल है। इसप्रकार वाणी अर्थात् उच्चरित पद (वाक्) के आधार पर च्छल होने से इसका नाम 'वाक्छल' है। यह केवल वक्ता के उपहास आदि किये-जाने की भावना से प्रवृत्त होता है।

मूल वक्ता के द्वारा इसका उत्तर निम्नप्रकार दियाजाना चाहिए। वक्ता छलवादी से कहता है—आपने कहा कि मैंने इस बालक के पास नौ कम्बल बताये हैं। आपने यह किस हेतु से जाना कि मैंने इसके पास नौ कम्बल बताये हैं ?

मैंने तो कहा–इसका नया कम्बल है, सामने दिखाई देरहा है। आपके पास यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं कि मैंने इसके पास नौ कम्बल बताये हैं। इसलिए मेरे ऊपर आपका उक्त आरोप नितान्त मिथ्या है।

लोक में प्रत्येक जानकार इस बात को जानता है कि कौन-सा पद किस अर्थ का वाचक है। व्यवहार में निरन्तर प्रयुक्त होनेवाले पदों का व्यवहार किसी सामान्य या विशेष अर्थ का बोध कराने के लिए लगातार कियाजाता है। अर्थ का ज्ञान कराना शब्द के प्रयोग का प्रयोजन है। प्रयोग के सामर्थ्य से अर्थात् शब्दप्रयोग की सफलता के अनुसार सामान्य शब्द के प्रयोग की व्यवस्था है। प्रयुक्त हुआ सामान्य शब्द भी विशेष अर्थ का बोध कराता है। जैसे किसीने कहा–'अजां ग्रामं नय' अथवा 'सर्पिराहर' अथवा 'ब्राह्मणं भोजय'। इन वाक्यों में अजा, ग्राम, सर्पि [घृत], ब्राह्मण आदि सब सामान्य पद हैं; परन्तु इनसे विशेष अर्थ का ही बोध होता है। प्रथम वाक्य से ऐसा बोध नहीं होता कि चाहे जिस बकरी [अजा] को चाहे जिस गाँव को लेजाया जाय। ये पद सामान्य होते हुए भी विशेष बकरी और विशेष गाँव का बोध कराते हैं। दूसरे वाक्य से भी यह बोध नहीं होता कि चाहे जहाँ से घी उठा लाओ [सर्पिराहर]। कहीं रक्खे हुए विशेष घी का ही बोध कराता है, यद्यपि 'सर्पिः' घृतवाचक सामान्य पद है। इसीप्रकार अन्तिम वाक्य में 'ब्राह्मण' सामान्य पद है; पर किसी विशिष्ट ब्राह्मण को लक्ष्य करके इसका प्रयोग हुआ है। फलतः पदप्रयोग की सफलता को देखकर कथित पद से जिस अर्थ के निर्देश की सम्भावना हो सकती है, उसी अर्थ को ग्रहण करना अभिप्रेत होता है।

ऐसे ही प्रस्तुत प्रसंग में 'नवकम्बलः' सामान्य शब्द है। इसके–नया कम्बल और नौ कम्बल–दोनों अर्थ हैं; पर जिस अर्थ का बोध कराने में प्रसंगानुसार इसकी सफलता–सार्थकता है, उसी अर्थ का बोध सम्भव है। 'नया कम्बल' अर्थ प्रसंगानुसार संगत है। जिस अर्थ 'नौ कम्बल' की सम्भावना नहीं, उस अर्थ को बोध कराने में इस वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए जिस अर्थ की कल्पना अयुक्त है, उसके आधार पर वक्ता को उलाहना देना असंगत है।

वाक्छल और उसके समाधान की ऊहा के लिए लोकव्यवहार में आये दिन अनेक उदाहरण सामने आते हैं। वाक्छल सर्वत्र प्रायः द्व्यर्थक पदों में उभरता है। 'गो' पद का अर्थ 'गाय' और 'बाण' दोनों हैं। 'गौर्विषाणी' कहने पर–'बाण के सींग [विषाण] कहाँ ?' कहना वाक्छल है। 'विषाण' सींग और सूंड़ दोनों का वाचक है। 'गजो विषाणी' कहने पर–'हाथी के सींग कहाँ ?' वाक्छल है। इसके उदाहरण का प्रसिद्ध वाक्य 'श्वेतो धावति' है। यहाँ सन्धिच्छेद से अर्थान्तर की कल्पना होती है। 'श्वेतः' सफेद घोड़ा दौड़ रहा है, वक्ता का अभिप्राय है। इसमें 'श्वा-इतः' सन्धिच्छेद करके वाक्छल का प्रयोग होता है–

कुत्ता [श्वा] इधर से दौड़ता है! कुत्ता यहाँ कहाँ है ? इत्यादि वाक्छल है। अनेक उदाहरण इसीप्रकार कल्पना किये जासकते हैं ॥ १२ ॥

सामान्यच्छल का लक्षण—वाक्छल के अनन्तर सूत्रकार ने सामान्यच्छल का लक्षण बताया—

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ॥ १३ ॥ (५४)

[सम्भवतः] सम्भव होनेवाले [अर्थस्य] अर्थ का [अतिसामान्ययोगात्] अत्यन्त सामान्य के साथ सम्बन्ध जोड़देने से [असम्भूतार्थकल्पना] असम्भव (न होसकनेवाले) अर्थ की कल्पना (कर परवाक्य में दोष देना), [सामान्यच्छलम्] 'सामान्यच्छल' है।

एक वक्ता ने किसी अर्थ की कहीं पर सम्भावना व्यक्त की। उस सम्भावना को अत्यन्त सामान्य आधार में लेजाकर जोड़देने से जो एक असम्भव अर्थ की कल्पना करलीजाती है, और उसके अनुसार वक्ता के द्वारा अभिव्यक्त सम्भावना को असत्य ठहरायाजाता है, यह 'सामान्यच्छल' की सीमा में आता है।

किसी व्यक्ति ने अपनी प्रसन्नता को अभिव्यक्त करते हुए कहा 'अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः' बड़े हर्ष की बात है, यह ब्राह्मण विद्या और आचरण दोनों से सम्पन्न है, युक्त है। विद्वान् है और सदाचारी है। इस कथन पर वक्ता ने एक सामान्य बात कही—'सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्' ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति का होना सम्भव है। एक कुलीन ब्राह्मण में विद्या और सदाचार-रूप सम्पत्ति की सम्भावना को अभिव्यक्त करते हुए वक्ता का तात्पर्य उस ब्राह्मण व्यक्तिविशेष की प्रशंसा करने में है। ब्राह्मण में ऐसा होना सम्भव है।

इस पर छलवादी इस सम्भावना को अति सामान्य के साथ-अर्थात् जन्म-मात्र के समस्त ब्राह्मण-समुदाय के साथ जोड़देता है, और एक असम्भव अर्थ की कल्पना कर कहता है—यदि ब्राह्मण में विद्या और सदाचार की सम्पत्ति होना सम्भव है, तो व्रात्य में भी वैसा विद्या-ज्ञान और सदाचार होना चाहिए। व्रात्य उस व्यक्ति को कहाजाता है, जो अपने वर्ण-धर्मों पर आचरण न करने के कारण पतित होगया हो। जो अर्थ गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण में सम्भव है, उस अर्थ की—केवल जन्मानुगत ब्राह्मण में—कल्पना कर वक्ता के उक्त कथन में दोष देना 'सामान्यच्छल' है। एक विशिष्ट व्यक्ति के लिए कहेगये प्रशंसापरक वाक्य को अतिसामान्य—ब्राह्मणमात्र के साथ जोड़देने से एक असम्भव अर्थ—व्रात्य का विद्याचरणसम्पन्न होना—उभर आता है, जो छलवादी ने वक्ता पर आरोपित किया। विद्या और आचरण की सम्पत्ति कहीं रहती है, कहीं नहीं रहती। जो

परिश्रम करता है, वर्णानुकूल धर्म का पालन करता है, वह सम्पत्ति पाता है; जो नहीं करता, नहीं पाता। यह सामान्यनिमित्तक छल होने से 'सामान्यच्छल' कहाजाता है।

वक्ता इसका समाधान इसप्रकार करता है—मैंने ब्राह्मण होने [ब्राह्मणत्व] को विद्या और सदाचार का हेतु नहीं बताया। केवल—जहाँ विद्या और सदाचार है, उसकी प्रशंसा के लिए उक्त वाक्य कहागया है। इसलिए यहाँ ऐसे अर्थ की कल्पना करना सर्वथा अनुपपन्न है, जो किसीतरह सम्भव नहीं। जैसे यह कहा-जाता है कि 'सम्भवन्ति अस्मिन् क्षेत्रे शालयः' इस खेत में धान बहुत अच्छे पैदा होने सम्भव हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि यहाँ बीज बोना अनावश्यक है, खेत अपने-आप धान पैदा करदेगा। यहाँ न तो बीज बोने का निराकरण है, और न उसके कहने की अपेक्षा है; केवल धान की अच्छी फसल होने की सम्भावना को लेकर खेत की प्रशंसामात्र में वक्ता का तात्पर्य है। ऐसा नहीं कि बीज विना बोये खेत धानों को उगा देगा। फसल तो बीज बोने पर होसकती है, पर यहाँ उसकी विवक्षा नहीं है। इसीप्रकार ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने मात्र से विद्या एवं सदाचार-सम्पत्ति की प्राप्ति होना आवश्यक नहीं है, न उसकी यहाँ विवक्षा है। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने से वातावरण अनुकूल होने के कारण विद्या-आचरण-सम्पत्ति की सम्भावना प्रकट करते हुए केवल उसके आधार की प्रशंसा में वक्ता का तात्पर्य है। विद्या आदि फलसम्पत्ति की प्राप्ति तो उसके हेतु—गुरुशुश्रूषा, अध्ययनपरिश्रम, ब्रह्मचर्यवास आदि- से होसकती है। उक्त वाक्य से उसका निराकरण नहीं कियागया। फलतः एक असम्भव अर्थ की कल्पना के आधार पर उक्त कथन में दोष का उद्भावन अनुपपन्न है ॥ १३ ॥

'उपचारच्छल' का लक्षण—क्रमप्राप्त उपचारच्छल का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥ १४ ॥ (५५)

[धर्मविकल्पनिर्देशे] धर्म के विकल्प से शब्द का निर्देश होने पर [अर्थसद्भावप्रतिषेध] अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना [उपचारच्छलम्] 'उपचारच्छल' है।

शब्द का धर्म है, अपने वस्तुभूत अर्थ का बोध कराना। शब्द से अर्थ का बोध कहीं अभिधा-शक्ति के अनुसार होता है, और कहीं लक्षणा-शक्ति के अनुसार। आलङ्कारिक उक्तियों में कहीं व्यञ्जना-शक्ति के अनुसार अर्थबोध होता है। शब्द के अर्थबोधरूप धर्म की यह पद्धति विविध प्रकार की है, यह है—धर्म-विकल्प। अभिधा-शक्ति से अर्थबोध कराने पर, लक्षणा-शक्ति के आधार से उस

अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध तथा लक्षणा-शक्ति से अर्थबोध कराने पर, अभिधा-शक्ति के आधार से उस अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध 'उपचारच्छल' कहाजाता है। उपर्युक्त अर्थबोध कराने की भावना से वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्दों को सुनकर यह समझलेने में कोई अधिक कठिनता नहीं होती कि उक्त वाक्यप्रयोग अभिधा-शक्ति के अनुसार कहागया है, अथवा लक्षणा-शक्ति के अनुसार। जिस पद्धति से वाक्यप्रयोग हुआ है, उससे भिन्न पद्धति का आश्रय लेकर वक्ता द्वारा कहेगये अर्थ का प्रतिषेध करना 'उपचारच्छल' है।

जैसे किसीने कहा—'मञ्चाः क्रोशन्ति'—मचान चिल्ला रहे हैं। खेतों की रखवाली के लिए बल्लियाँ या दूसरी मोटी ऊँची लकड़ियाँ जमीन में गाड़कर उनके ऊपर बैठने का जो स्थान बनालियाजाता है, उसे संस्कृत में 'मञ्च' तथा हिन्दी में 'मचान' या 'टाँड' कहाजाता है। अभिनयस्थान को भी 'मञ्च' कहा-जाता है। खेत के मचान पर बैठकर व्यक्ति चिड़ियों या अन्य जंगली जानवरों को भगाने के लिए हल्ला मचाता रहता है। इसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए वक्ता ने 'मञ्चाः क्रोशन्ति' वाक्य कहा। स्पष्ट है, मचान कभी नहीं चिल्लाते; वह तो लकड़ी, घास-फूंस आदि का ढेर है; उसके ऊपर बैठे व्यक्ति चिल्लाया करते हैं, अतः यह लक्षणामूलक औपचारिक प्रयोग है। 'लक्षणा' अथवा 'उपचार' पद समान अर्थ को कहते हैं। ऐसे कथन का अभिधा-शक्ति के आधार पर प्रतिषेध करना—'मचान कहाँ चिल्लाते हैं ? मचान पर बैठे पुरुष चिल्ला रहे हैं'—उपचारच्छल है।

'उपचार' पद का तात्पर्य है किसी शब्द के अर्थ को उसके समीपसम्बन्धी आदि पर आरोपित करना। प्रस्तुत प्रसंग में 'पुरुष' पद के अर्थ को 'मञ्च' में आरोपित करदियागया है। गुण, भक्ति, लक्षणा, उपचार आदि पद इन प्रसंगों में एकार्थवाचक हैं। गौण-भाक्त-लाक्षणिक-औपचारिक प्रयोग, एक ही बात है। जो जैसा नहीं है, किन्हीं निमित्तों के आधार पर उसको वैसा बतादेना 'उपचार' है। इन निमित्तों का उल्लेख प्रसंगवश सूत्रकार ने आगे [२। २। ६२] किया है।

ऐसे प्रतिषेध का समाधान निम्न रूप में करना चाहिए। लोक में अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनामूलक सभी प्रकार के प्रयोग होते हैं, और वे मान्य हैं। जिस पद्धति से वक्ता ने वाक्यप्रयोग किया है, उसीके अनुसार उसका स्वीकार अथवा प्रतिषेध होना चाहिए, स्वेच्छा से नहीं। यह उचित नहीं है कि वक्ता ने लक्षणा-मूलक प्रयोग किया; उसका प्रतिषेध अथवा स्वीकार अभिधामूलक पद्धति से कियाजाय। इसीप्रकार अभिधामूलक प्रयोग होने पर लक्षणा-मूलक पद्धति से उसका प्रतिषेध आदि अनुचित है॥ १४॥

छल-लक्षण परीक्षा—शास्त्रीय अर्थों का विवेचन–उद्देश, लक्षण, परीक्षा–इन तीन रूपों में कियाजाता है। प्रस्तुत प्रसंग लक्षण-निर्देश का है। परन्तु छल-विषयक परीक्षा अत्यल्प होने के कारण सूत्रकार ने यहीं उसका विवरण देदिया है। इस सन्दर्भ में शिष्य जिज्ञासा करता है—

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥ १५ ॥ (५६)

[वाक्छलम्] वाक्छल [एव] ही है, [उपचारच्छलम्] उपचारच्छल, [तदविशेषात्] उन दोनों में अविशेष–समानता होने से।

उपचारच्छल को वाक्छल से भिन्न नहीं समझना चाहिए। कारण यह है कि वाक्छल में अर्थान्तर की कल्पना से कथित वाक्य का प्रतिषेध कियाजाता है। ऐसा ही उपचारच्छल में है; क्योंकि यहाँ भी गुणभूत प्रयोग में प्रधान की कल्पना करके प्रतिषेध होता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' वाक्य में 'मञ्च' पद का प्रधान [अभिधाशक्तिबोध्य] अर्थ स्थान है, तथा गुणभूत [लक्षणाशक्तिबोध्य] अर्थ स्थानी [उस स्थान में बैठनेवाला व्यक्ति] है। वक्ता ने इसका प्रयोग गुणभूत अर्थ में किया। परन्तु छलवादी ने प्रधान–अर्थान्तर की कल्पना करके उसका प्रतिषेध किया। इसप्रकार अर्थान्तर की कल्पना से अन्य अर्थ के [वक्ता द्वारा बोध्य अर्थ के] सद्भाव का प्रतिषेध दोनों जगह–वाक्छल, उपचारच्छल में–समान है। अतः उपचारच्छल को पृथक् कहना अनावश्यक है ॥ १५ ॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥ (५७)

[न] नहीं, [तदर्थान्तरभावात्] उन दोनों में भेद होने के कारण।

उपचारच्छल का समावेश वाक्छल में सम्भव नहीं है, क्योंकि उन दोनों में परस्पर भेद है। वाक्छल में केवल अर्थान्तर की कल्पना है, लक्षणसूत्र में अर्थान्तर की कल्पना को वाक्छल कहागया है। परन्तु उपचारच्छल के लक्षण में–अर्थसद्भाव के प्रतिषेध को उपचारच्छल बताया है। 'अर्थान्तर की कल्पना' और 'अर्थसद्भाव के प्रतिषेध' में स्वरूपतः भेद है। वाक्छल के उदाहरण से स्पष्ट है, वहाँ अर्थ–कम्बल के सद्भाव का प्रतिषेध नहीं है, केवल 'नव' पद के अर्थान्तर की कल्पना है; उसी आधार पर वक्ता के कथन में दोष प्रस्तुत कियागया है। परन्तु उपचारच्छल में अर्थसद्भाव का प्रतिषेध स्पष्ट है। क्रोशन या चिल्लाहट के सन्दर्भ में मञ्च–अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध कर उसकी जगह पुरुष को स्वीकार किया–'मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति, न तु मञ्चाः।' इसप्रकार इन दोनों में भेद होने से वाक्छल और उपचारच्छल को एक नहीं समझना चाहिए ॥ १६ ॥

शिष्य की सन्तुष्टि के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत प्रसंग को प्रकारान्तर से स्पष्ट किया—

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥ १७ ॥ (५८)

[अविशेषे] भेद न मानने पर [वा] तो [किञ्चित्साधर्म्यात्] थोड़े-से साधर्म्य से [एकच्छलप्रसंगः] एक छल का मानलेना प्राप्त होजायगा।

सूत्रकार ने छल के तीन भेदों का उल्लेख किया है। यदि थोड़े-से साधर्म्य से वाक्छल और उपचारच्छल को एक मानकर छल के दो भेद स्वीकार किये-जाते हैं, तो ऐसा थोड़ा साधर्म्य छलमात्र में सम्भव है; तब दो भेद भी क्यों मानेजायें, एक ही छल स्वीकार कर लेना चाहिए। जिज्ञासु जिस हेतु के आधार पर तीन की जगह दो भेद छल के स्वीकार करता है, उसी हेतु के आधार पर–स्वीकृत दो भेद का प्रतिषेध सम्भव है, क्योंकि उन दो भेदों में भी थोड़ा साधर्म्य विद्यमान रहता है। वह साधर्म्य है-किसी के कथित वाक्य के अर्थ-वैविध्य की कल्पना से उस कथन को काटने का प्रयास करना। इससे मिलती-जुलती स्थिति प्रत्येक छल में है। यदि इसप्रकार के थोड़े-से साधर्म्य के रहने पर दो भेद स्वीकार कियेजाते हैं, तो तीन भेद स्वीकार करने में क्या बाधा है? थोड़ा साधर्म्य रहने पर कुछ वैलक्षण्य भी प्रत्येक छल के स्वरूप में हैं, जो लक्षणसूत्रों में स्पष्ट करदिया है। प्रत्येक छल में किञ्चित् साधर्म्य स्वीकार कर लेने से शिष्य जिज्ञासा के आधार की पुष्टि द्वारा शिष्य की सन्तुष्टि को आचार्य ने उपलक्षित किया है ॥ १७ ॥

जाति का लक्षण—छल का विवरण प्रस्तुत करदेने के अनन्तर अब क्रम-प्राप्त जाति का सामान्य लक्षण सूत्रकार ने बताया—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ १८ ॥ (५९)

[साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्] साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा (वादी के उपस्थापित हेतु का) [प्रत्यवस्थानम्] प्रतिषेध करना [जातिः] 'जाति' नामक पदार्थ है।

वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु में जो प्रसंग बाधारूप से प्रस्तुत कियाजाता है, उसका नाम 'जाति' है। 'प्रयुक्ते हेतौ प्रसंगो जायते इति जातिः।' वह प्रसंग क्या है? सूत्रकार ने बताया–'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानम्' वादी ने अपने पक्ष को–हेतु-साध्य की व्याप्ति से सम्पन्न सोदाहरण–स्थापित किया। प्रतिवादी जब उसका सदुत्तर देने में अपने को असमर्थ पाता है, तो पराजय से बचने और किसी-न-किसी प्रकार वादी को निरुत्तर करने एवं श्रोता-समुदाय को प्रभावित करने की भावना से 'जाति' का प्रयोग करता है। यदि वादी उससे दबजाता है,

जाति के प्रयोग का निराकरण नहीं करपाता; तो प्रतिवादी का प्रयोजन सिद्ध होजाता है; वह चर्चा में विजयी मानलियाजाता है।

इसके विपरीत प्रतिवादी द्वारा अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए जाति का प्रयोग करने पर यदि वादी उस जाति के प्रयीग को उद्घाटित करदेता है, और यह ठीक बतादेता है कि यह अमुक जाति का प्रयोग इस आधार पर है, तो प्रतिवादी पराजित मानलियाजाता है। क्योंकि चर्चा में जाति का प्रयोग करना अपनी दुर्बलता का द्योतक होता है, जो पराजय का निमित्त है।

सूत्रकार ने जाति-प्रयोग के चौबीस भेद अथवा प्रकार बताये हैं, जिनका विवरण पञ्चम अध्याय के प्रथम आह्निक में दियागया है। उनमें साधारण रूप से वादी के कथन में साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर दोष प्रस्तुत करना लक्ष्य रहता है। यदि वादी उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के साथ अपने पक्ष की स्थापना करता है, तो प्रतिवादी उदाहरण के वैधर्म्य से साध्याभाव को सिद्ध करनेवाले हेतु के द्वारा वादी के कथन में दोष प्रकट करता है। यदि वादी उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु के साथ अपने पक्ष की स्थापना करता है, तो प्रतिवादी उदाहरण के साधर्म्य से साध्याभाव को सिद्ध करनेवाले हेतु के द्वारा वादी के कथन में दोष का उद्भावन करता है। इसका तात्पर्य हुआ, विरोधी भावना से प्रयुज्यमान प्रसङ्ग—जो अपनी दुर्बलता को छिपाने और सचाई को झुठलाने की भावना से प्रस्तुत कियाजाता है—जाति-प्रयोग की सीमा में आजाता है।

यद्यपि समस्त जातियों के लक्षण और उदाहरणों का विवरण पञ्चमाध्याय के प्रथम आह्निक में विस्तारपूर्वक दियागया है, तथापि दिग्दर्शनमात्र के लिए एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कियाजाता है। वादी ने अपने पक्ष की स्थापना की—'अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, घटवत्' शब्द अनित्य है, कृतक (किया हुआ, उत्पन्न) होने के कारण, घट के समान। जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट। शब्द भी कृतक है, इसलिए अनित्य है। वादी ने यह उदाहरणसाधर्म्य से अर्थात् साधर्म्यव्याप्तिक हेतु के साथ अपने पक्ष की स्थापना की। जातिवादी ने देखा, यह बात ठीक कहीगई है, इसका सदुत्तर देना सरल नहीं, पर भरी सभा में चर्चा के अवसर पर झेंपना भी ठीक नहीं। उसने तत्काल जाति का प्रयोग किया; यदि वादी इसकी लपेट में आगया तो पौ-बारह, अन्यथा पराजय तो दोनों ओर है। दाव लगाकर देखलेना ही ठीक होगा। वह बोला—वादी ने कहा है, कृतक होने से शब्द अनित्य है, घट के समान। हम देखते हैं, घट मूर्त्त पदार्थ है। इसका तात्पर्य हुआ—जो मूर्त्त होता है वह अनित्य होता है; परन्तु जो मूर्त्त नहीं होता, वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आकाश। आकाश मूर्त्त नहीं है, और अनित्य भी नहीं है। शब्द भी मूर्त्त नहीं है, तब वह

घट के साथ 'अमूर्त्तत्व' वैधर्म्य से घट के समान अनित्य नहीं होना चाहिए। फलतः वादी के द्वारा शब्द का अनित्य बतायाजाना दोषपूर्ण है। यह वादी के द्वारा साधर्म्य से प्रयुक्त हेतु का वैधर्म्य से प्रतिषेध जाति-प्रयोग के अनुसार प्रस्तुत कियागया।

पूर्वोक्त उदाहरण में वादी वैधर्म्यव्याप्तिक हेतु के आधार पर अपने पक्ष की स्थापना करता है। प्रतिवादी साधर्म्यव्याप्तिक हेतु से उसका प्रतिषेध करता है। जैसे वादी ने कहा—'शब्दः अनित्यः, कृतकत्वात्, यत्कृतकं न भवति तद् अनित्यमपि न भवति, यथा आकाशः, न चायं शब्दस्तथा आकाशवद् अकृतकः, तस्मात् कृतकत्वात् शब्दः अनित्यः।'

शब्द अनित्य है, कृतक होने से; जो कृतक नहीं होता, वह अनित्य नहीं होता, जैसे आकाश। शब्द क्योंकि आकाश की तरह अकृतक नहीं है, अतः आकाश के साथ 'अकृतकत्व' वैधर्म्य से कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है।

वादी की इस स्थापना पर प्रतिवादी जाति-प्रयोग द्वारा साधर्म्यव्याप्तिक हेतु से उसका प्रतिषेध प्रस्तुत करता है। वह कहता है-यदि आकाश के साथ 'अकृतकत्व' वैधर्म्य से शब्द अनित्य है, तो आकाश के साथ 'अमूर्त्तत्व' साधर्म्य से शब्द को आकाश के समान नित्य क्यों न मानाजाय? अतः वादी के द्वारा शब्द की अनित्यता को बताना दोषपूर्ण है। वादी ऐसी स्थिति में यह बताकर, कि प्रतिवादी के द्वारा अमुक आधार पर यह जाति का प्रयोग कियागया है, उसे पराजित करदेता है ॥ १८ ॥

निग्रहस्थान का लक्षण—जाति के अनन्तर क्रमप्राप्त निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ १९ ॥ (६०)

[विप्रतिपत्तिः] अभिमत से विपरीत अथवा अवाञ्छनीय कथन करदेना, [अप्रतिपत्तिः] अज्ञानता से चुप रहजाना [च] और [निग्रहस्थानम्] 'निग्रह-स्थान' है।

चर्चा के अवसर पर घबराहट के कारण अथवा वादी के कथन का उपयुक्त उत्तर न दे सकने की असमर्थता के कारण अपने अभिमत के विरुद्ध कहजाना, अथवा ऐसी बात कहदेना, जिसका कहना सभास्थल एवं चर्चा के प्रसंगों में निन्दनीय व अवाञ्छनीय हो; ऐसी स्थिति को निग्रहस्थान अर्थात् पराजय का अवसर मानाजाता है। यह 'विप्रतिपत्ति' का विवरण है। इसीप्रकार 'अप्रतिपत्ति' पराजय का स्थान होता है। इस पद का अर्थ है–'अज्ञान'। वादी ने जो अपने पक्ष की स्थापना की है, अथवा प्रतिवादी के कथन का जो प्रतिषेध किया है, अपनी अज्ञानता के कारण उन दोनों में से न तो प्रतिवादी वादी के स्थापित पक्ष

का प्रतिषेध करता है, और न वादी के द्वारा अपने प्रतिषिद्ध पक्ष का उद्धार करता है; सकते में आकर चुपचाप खड़ा रहजाता है; यह अप्रतिपत्तिमूलक निग्रहस्थान है।

सूत्र में 'विप्रतिपत्तिः' और 'अप्रतिपत्तिः' इन पदों को पृथक् स्वतन्त्र रूप से पढ़ा है, इनका समास नहीं किया। समास करने पर सूत्र की रचना 'विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती निग्रहस्थानम्' होती। उस दशा में यह भ्रम होसकता था कि निग्रहस्थान केवल दो प्रकार का सम्भव है–विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति-मूलक। परन्तु सूत्रकार ने समास न करके यह तात्पर्य प्रकट किया है कि विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के स्वतन्त्र प्रस्तार (फैलाव) से निग्रहस्थान के अनेक प्रकार हो-जाते हैं। इस रूप में बाईस निग्रहस्थानों का विवरण पञ्चमाध्याय के द्वितीय आह्निक में दियागया है ॥ १९ ॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या दृष्टान्त के समान जाति और निग्रहस्थान के कोई भेद नहीं होते ? अथवा सिद्धान्त के समान जाति और निग्रहस्थान के भेद सम्भव हैं ? सूत्रकार ने बताया—

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ २० ॥ (६१)

[तद्विकल्पात्] उनके विविध प्रकार के आधार पर [जातिनिग्रहस्थान-बहुत्वम्] जाति और निग्रहस्थान के अनेक भेद होजाते हैं।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम पद अठारहवें सूत्र के साधर्म्य और वैधर्म्य पद तथा उन्नीसवें सूत्र के विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति पदों का परामर्श करता है। साधर्म्य और वैधर्म्य के एवं विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विविध तथा परस्पर-विरोधी प्रकारों के आधार पर जाति और निग्रहस्थान के बहुत-से भेद होजाते हैं। साधर्म्य तथा वैधर्म्य के विकल्प से जाति के चौबीस भेदों का, तथा विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प से बाईस निग्रहस्थानों का विवरण यथाक्रम पञ्चमाध्याय के प्रथम-द्वितीय आह्निकों में विस्तारपूर्वक दियागया है। बाईस निग्रहस्थानों में कुछ विप्रतिपत्तिमूलक और कुछ अप्रतिपत्तिमूलक हैं। अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, ये छह निग्रह-स्थान अप्रतिपत्तिमूलक हैं; शेष सोलह विप्रतिपत्तिमूलक। इनके नाम अन्तिम आह्निक में देख लेवें।

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का नाम-निर्देशपूर्वक प्रथम सूत्र में उल्लेख कियागया। यथाक्रम उन सबके लक्षण और उनके भेद बतायेगये। प्रथम अध्याय में इतना विषय प्रतिपादित कियागया। अगले अध्यायों में लक्षण के अनुसार इनकी परीक्षा कीजायगी। इसप्रकार प्रस्तुत शास्त्र की उद्देश, लक्षण, परीक्षा-

रूप में त्रिविध प्रवृत्ति को समझना चाहिए। शास्त्र का समस्त प्रतिपाद्य विषय इसमें सिमट आता है, समाविष्ट रहता है ॥ २० ॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता' वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन,
बुलन्दशहर मण्डलान्तर्गत 'बनैल' ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना **उदयवीर-शास्त्रिणा** समुन्नीते
गौतमीयन्यायसूत्रविद्योदयभाष्ये प्रथमा-
ध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

'संशय' लक्षण परीक्षा—गत अध्याय में उद्दिष्ट, प्रमाण आदि पदार्थों के कियेगये लक्षणों के क्रम से उनकी परीक्षा यहाँ कीजायगी। परीक्षा की पद्धति के अनुसार प्रथम विचार्य पदार्थ के विषय में संशय प्रस्तुत कियाजाता है। अनन्तर पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करते हुए विचार्य विषय का अवधारण-निर्णय होता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम संशय [१।१।२३] की परीक्षा कीजानी चाहिये, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की परीक्षा के लिए इसकी अपेक्षा रहती है। शिष्यों की जिज्ञासा तथा सर्वपरीक्षोपयोगिता की भावना से सूत्रकार ने कहा—

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥ (६२)

[समानानेकधर्माध्यवसायात्] समानधर्म तथा अनेक धर्म के अध्यवसाय (निश्चय) से, [अन्यतरधर्माध्यवसायात्] दोनों में से किसी एक धर्म के निश्चय से [वा] अथवा [न] नहीं (होता है) [संशयः] संशय।

संशय-लक्षण में दोषोद्भावन—संशयलक्षण सूत्र [१।१।२३] में समानधर्म के निश्चय अथवा अनेकधर्म के निश्चय से जो संशय का होना बतायागया है, वह युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि समानजातीय पदार्थों में भिन्न धर्म रहते हैं, तथा समानधर्म भी रहते हैं; उन-उन पदार्थों में किन्हीं धर्मों का केवल निश्चय होना संशय का जनक नहीं होता। स्थाणु और पुरुष समानजातीय द्रव्य पदार्थ हैं, उनमें किन्हीं समान अथवा भिन्न धर्मों के निश्चयमात्र से किसीप्रकार का संशय उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती।

इसीप्रकार अनेक का धर्म संशय का जनक नहीं होता। जैसे 'कृतकत्व' (उत्पन्न होना) धर्म, शब्द के समानजातीय गन्ध आदि गुणों में, तथा असमान-जातीय पट-घट आदि द्रव्यों में रहता है, यह निश्चय है। इतने निश्चयमात्र से किसी संशय के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती। न केवल किसी धर्मी में धर्म के होने से संशय हुआ करता है। यदि इतने से संशय होजाया करे, तो सर्वत्र धर्मी पदार्थों में धर्म के विद्यमान रहने से सदा संशय की स्थिति बनी रहे।

किन्हीं दो पदार्थों में समान धर्म की उपलब्धि होना भी संशयजनक नहीं होता, क्योंकि धर्म-धर्मी का ग्रहण होने पर किसी संशय का अवकाश नहीं है। ऐसे ही न यह सम्भव है कि एक धर्मी में समानधर्म का निश्चय अन्य धर्मी में सन्देह का जनक हो। जैसे किसी एक धर्मी में रूप का निश्चय, अन्य धर्मी में स्पर्शविषयक संशय का जनक नहीं होता। मूलभूत बात यह है कि किसी अर्थ का निश्चय अनिश्चयात्मक संशय का जनक नहीं होना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने से कार्य-कारण में समानरूपता नहीं रहेगी, जिसका होना आवश्यक है। अन्यथा प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से होजाया करे। इसीप्रकार अनेकधर्म के निश्चय से भी संशय का न होना समझलेना चाहिये। विभिन्न धर्मियों में अनेक धर्मों का ग्रहण होना धर्म-धर्मी का निश्चय ही है। इससे संशय क्यों होगा? ऐसे ही दो धर्मी पदार्थों में से किसी एक के धर्म का निश्चय होजाना, स्वयं निश्चय का रूप है, उससे संशय कैसा? फलतः संशयलक्षणसूत्र में जो संशय के हेतु बतायेगये हैं, वे संगत प्रतीत नहीं होते। संशय-लक्षण की परीक्षा के लिए पांचवें सूत्र तक यह पूर्वपक्ष का विषय प्रस्तुत है; इसका समाधान छठे सूत्र में कियागया है ॥ १ ॥

विप्रतिपत्ति आदि भी संशय के निमित्त नहीं होसकते, पूर्वपक्ष की भावना से सूत्रकार ने बताया—

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥ (६३)

[विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायात्] विप्रतिपत्ति से, अव्यवस्था से तथा इनके अध्यवसाय-निश्चय से [च] और (संशय नहीं होता)।

पहले सूत्र से 'न संशयः' पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये। केवल 'विप्रतिपत्ति' होने से संशय नहीं होता। इस पद का अर्थ है—परस्पर दो विपरीत अर्थों का जानना। जैसे-'आत्मा है' यह वैदिक दर्शनों का कहना है; 'आत्मा नहीं है' यह चार्वाक-मत है; आत्मविषयक इस विपरीतज्ञानमात्र से संशय नहीं होता, जबतक उनमें से किसी एक के लिए विशेष जिज्ञासा न हो। इसीप्रकार ऐसा निश्चय भी संशय का जनक नहीं होता कि कतिपय आचार्य ऐसा मानते हैं; और इसके विपरीत दूसरे ऐसा मानते हैं।

उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्थामात्र से संशय नहीं होता; और न इन अव्यवस्थाओं के निश्चय से संशय होता है। संशय तभी होगा, जब उनमें से किसी विशेष की जिज्ञासा हो। उपलब्धि की अव्यवस्था है-वस्तु होती हुई उपलब्ध होती है, जैसे—साधारण घट-पट आदि। कभी न होती हुई उपलब्ध होजाती है, जैसे—मरुमरीचिका में जल। उपलब्धि की इस अव्यवस्था के केवल जानलेने से संशय नहीं होता; प्रत्युत दूर से किसी वस्तु

के दिखाई देने पर विशेष की जिज्ञासा होनेसे संशय होगा कि यह वस्तु मुझे—ठीक होती हुई दिखाई देरही है, अथवा न होती हुई—मरुमरीचिका के जल के समान दिखाई दे रही है ?

ऐसे ही केवल अनुपलब्धि की अव्यवस्था संशय की जनक नहीं होती। कोई वस्तु खोज करने पर भी न मिलने की अवस्था में विशेष की अपेक्षा होने से ही संशय को उत्पन्न करती है कि यह वस्तु न होती हुई ही नहीं मिलरही; अथवा होती हुई नहीं दिखाई देरही ? केवल अनुपलब्धि की अव्यवस्था का जानलेना संशय का जनक नहीं होता। इसलिए संशयलक्षणसूत्र में विप्रतिपत्ति आदि से संशय होने का कथन युक्त नहीं है ॥ २ ॥

विप्रतिपत्ति संशयहेतु नहीं—विप्रतिपत्ति से संशय बताने में अन्य दोष होने का निर्देश सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से किया—

विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥ (६४)

[विप्रतिपत्तौ] विप्रतिपत्ति में—विपरीत ज्ञानों में [च] और [संप्रतिपत्तेः] संप्रतिपत्ति होने से—अपना-अपना निश्चय होने से (संशय का अवकाश नहीं)।

जब वादी अथवा प्रतिवादी अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं, तो उन विचारों के परस्पर विपरीत होने पर भी वादी-प्रतिवादी दोनों को अपने विचारों का निश्चय होता है। मध्यस्थ को यह निश्चय होता है कि विभिन्न वादियों का अपना यह विचार है। ऐसा निश्चय होना 'सम्प्रतिपत्ति' है। ऐसी दशा में यदि विप्रतिपत्ति से संशय होना कहाजाता है, तो संप्रतिपत्ति से भी संशय होना मानना चाहिये। वस्तुतः जिसको 'विप्रतिपत्ति' कहाजाता है, वह अपने-अपने पक्ष में निश्चय से 'संप्रतिपत्ति' है। यदि विप्रतिपत्ति से संशय होना कहाजाता है, तो वह संप्रतिपत्ति से ही होना प्राप्त होता है। क्योंकि संप्रतिपत्ति से संशय नहीं हो सकता; तब विप्रतिपत्ति को भी संशय का जनक नहीं मानाजाना चाहिये। पूर्वपक्षी विप्रतिपत्ति को सम्प्रतिपत्ति का रूप देकर संशयहेतु में व्यभिचार-दोष की उद्भावना प्रकट करना चाहता है ॥ ३ ॥

अव्यवस्था व्यवस्था है—उपलब्धि-अनुपलब्धि की अव्यवस्था से जो संशय का उत्पन्न होना बताया, उसमें प्रकारान्तर से पूर्वपक्षी दोष की उद्भावना करता है—

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्त्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥ (६५)

[अव्यवस्थात्मनि] अव्यवस्थास्वरूप में [व्यवस्थितत्वात्] व्यवस्थित होने से [च] तथा [अव्यवस्थायाः] अव्यवस्था के (अव्यवस्था से संशय-उत्पत्ति कहना असंगत है)।

अव्यवस्था अपने स्वरूप में सदा व्यवस्थित रहती है; यदि ऐसा न हो, तो वह अपने अस्तित्व को खोबैठे। अतः अपने में व्यवस्थित होने से उसे 'व्यवस्था' समझना चाहिये। ऐसी दशा में अव्यवस्था को संशयजनक कहना अयुक्त है। यदि अव्यवस्था स्वरूप में व्यवस्थित नहीं, तो वह अव्यवस्था न रहने से उसे संशय-जनक बताना निराधार है। पहले हेतु के समान यहाँ भी अनैकान्तिक दोष का उद्‌भावन अभिप्रेत है ॥ ४ ॥

अत्यन्त-संशय दोषोद्‌भावन—उक्त स्थितियों में यदि निर्दिष्ट हेतुओं से संशय का होना स्वीकार कियाजाता है, तो संशय बना रहना चाहिये, इस रूप में पूर्वपक्ष की भावना से सूत्रकार ने बताया—

तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥ (६६)

[तथा] उस प्रकार [अत्यन्तसंशयः] निरन्तर एवं सदा संशय होता रहना चाहिये, अथवा बना रहना चाहिये, [तद्धर्मसातत्योपपत्तेः] उन समानधर्म आदि के सतत निरन्तर विद्यमान रहने से।

पदार्थों में कोई-न-कोई समानधर्म आदि संशय का कारण सदा विद्यमान रहता है। अतः जिसप्रकार से आप इन्हें संशय का कारण मानते हैं, उससे सदा संशय होते रहना प्राप्त होता है। पदार्थों में से समानधर्म आदि कारणों का कभी पूर्ण उच्छेद नहीं होसकता, तब संशय-कार्य का उच्छेद न होने से संशय की स्थिति निरन्तर बनी रहेगी। विचार करने पर कोई धर्मी ऐसा ज्ञात नहीं होता, जिसमें यत्किञ्चित् समानधर्म की विद्यमानता न हो। प्रत्येक धर्मी में कोई-न-कोई समानधर्म आदि सदा बना रहता है।

इन पांच सूत्रों से—संशयलक्षण सूत्र [१।१।२३] में कहे गये संशय के हेतुओं में—दोष की उद्‌भावना कीगई। इसका यही प्रयोजन है कि हेतु को निर्दोष उपपादित कर उसके यथार्थ हेतुभाव को स्पष्ट कियाजाय। प्रत्येक पदार्थ की परीक्षा में यही भावना रहती है। आत्मा आदि प्रमेयों की परीक्षा तृतीय-चतुर्थ अध्यायों में कीगई है; जाति और निग्रहस्थानों का विस्तृत विवरण पञ्चम अध्याय में है। छल की परीक्षा लक्षण-प्रसङ्ग में करदीगई है। शेष प्रमाणों की परीक्षा इस द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम संशय की परीक्षा प्रारम्भ में प्रस्तुत करने का कारण यही है कि प्रत्येक परीक्षा में संशय का उपयोग रहता है। वस्तुतः समस्त शास्त्र में मुख्यरूप से प्रमाण-प्रमेयों की परीक्षा कीगई है। प्रयोजन, दृष्टान्त आदि की परीक्षा अनपेक्षित होने से छोड़ दी गई है ॥ ५ ॥

संशयलक्षण-दोष समाधान—गतसूत्रों से संशय-हेतुओं में जो दोषोद्‌भावन कियागया, उस समस्त प्रतिषेध का संक्षेप से सूत्रकार समाधान करता है—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नाऽसंशयो नाऽत्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥ (६७)

[यथोक्ताध्यवसायात्] पहले जैसे कहेगये अध्यवसाय–ज्ञान से [एव] ही [तद्विशेषापेक्षात्] उस (ज्ञान) के विशेष (के जानने) की अपेक्षा से [संशये] संशय होना मानने पर [न] नहीं [असंशयः] संशय का अभाव, [न] नहीं [अत्यन्तसंशयः] अत्यन्तसंशय होता है [वा] और।

जैसा पूर्वपक्ष द्वारा कहागया—समानधर्म या अनेकधर्म की केवल विद्यमानता से संशय नहीं होता, प्रत्युत समानधर्म आदि के अध्यवसाय–ज्ञान से संशय होता है। जबतक विभिन्न धर्मियों में समानधर्म आदि का ज्ञान न होगा, तबतक संशय का होना सम्भव नहीं। यह पूर्वपक्ष का कहना ठीक है। इतना होने पर भी यह आवश्यक है कि उन ज्ञानों में से किसी एक विशेष के जानने की अपेक्षा हो, तभी समानधर्म आदि कारणों से संशय उत्पन्न होता है। इस दशा में न संशय का अभाव रहता है, और न अत्यन्तसंशय होने की स्थिति आती है।

पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते समय वादी के द्वारा 'तद्विशेषापेक्षः' इन लक्षण-सूत्रपठित पदों की निरन्तर उपेक्षा कीगई है। इस ओर पूर्वपक्षी ने नितान्त ध्यान नहीं दिया। विशेषज्ञान की अपेक्षा तभी होसकती है, जब संशयिता को समानधर्म आदि का साधारणज्ञान प्रथम हो। उसके बिना विशेषज्ञान की अपेक्षा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए लक्षणसूत्र में 'समानधर्माऽध्यवसाय' पद न कहने पर भी 'तद्विशेषापेक्षः' पदों से समानधर्म आदि के साधारण प्रत्यक्षज्ञान का होना लक्षणकार को अभिप्रेत है, यह स्पष्ट होता है।

इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने 'उपपत्ति' पद का स्वयं सूत्र में निर्देश किया है—'समानानेकधर्मोपपत्तेः'। 'समानधर्मोपपत्ति' पद का अर्थ—समानधर्म के अध्यवसाय-संवेदन-ज्ञान के अतिरिक्त–और कुछ नहीं है। विद्यमान समानधर्म यदि जाना नहीं गया है, तो वह अविद्यमान के समान है। न जानने पर उसका विद्यमान होना-न होना बराबर है; उससे संशय उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं।

अथवासूत्र में 'समानधर्म' विषय-शब्द से विषयी-ज्ञान का कथन समझना चाहिये। तात्पर्य है—सूत्र का 'समानधर्म' पद समानधर्म के अध्यवसाय–ज्ञान का निर्देश करता है। लोक में ऐसा व्यवहार देखाजाता है। जब हम कहते हैं–धूम से अग्नि का अनुमान होता है–'धूमेनाग्निरनुमीयते', तब उसका तात्पर्य यही होता है कि धूमदर्शन से, धूम के प्रत्यक्षज्ञान से अग्नि का अनुमान होता है। यद्यपि वाक्य में 'दर्शन-अध्यवसाय-ज्ञान' आदि कोई पद नहीं है, पर बोद्धा उक्त

वाक्य की अर्थबोधकता को इसीरूप में स्वीकार करता है। इसप्रकार विषय-शब्द से विषयी ज्ञान-प्रत्यय का कथन स्वीकार होने से प्रस्तुत संशयलक्षण-सूत्र में 'समानधर्म' शब्द से 'समानधर्माध्यवसाय' का कथन मान्य होजाता है। इसलिए संशयलक्षणसूत्र में दोष की उद्भावना करना असंगत है।

यह जो कहा–'दो विभिन्न पदार्थों के समानधर्मों का सामने की वस्तु में ग्रहण कररहा हूँ, यहाँ धर्म और धर्मी का ग्रहण होने पर संशय होने का अवसर नहीं रहता' ऐसे प्रसंगों में निश्चय है, यह ज्ञान पहले देखे हुए विषय का होता है। जिन दोनों धर्मी पदार्थों को पहले उनके धर्मसहित मैंने देखा था, सामने की वस्तु में उनके समान धर्मों का ग्रहण कर रहा हूँ; विशेष धर्मों की उपलब्धि नहीं होरही; इसके विशेष धर्मों को कैसे देखूं, जिससे दोनों धर्मियों में से एक का निश्चय कियाजासके? ऐसी जिज्ञासा केवल धर्म और धर्मी का ग्रहण होजाने से समाप्त नहीं होती। यह जिज्ञासा निवृत्त न होकर आवश्यकरूप से संशय को उत्पन्न करती है–समानधर्मोंवाले उन पूर्वदृष्ट दो धर्मियों में से यह कौन है? खाली ठूंठ है खड़ा, या कोई आदमी है?

यह जो कहा–'एक पदार्थ के निश्चय से अन्य पदार्थ-विषयक संशय नहीं होता' यह आक्षेप उसीपर किया जाना चाहिये, जो ऐसी मान्यता प्रकट करे। संशयलक्षणसूत्र में ऐसा कोई कथन नहीं है, जिसका यह भाव प्रकट होता हो। अतः यह दोष निराधार है।

अनन्तर यह जो कहा–निश्चयात्मक ज्ञान से संशयज्ञान नहीं होसकता, क्योंकि ऐसा मानने से कार्य-कारण का सारूप्य नहीं रहेगा। इस प्रसंग में यह समझने की आवश्यकता है–कार्य-कारण का सारूप्य क्या होता है? कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न होने पर कार्य का न होना, कार्य-कारण का सारूप्य है। जिसके होने से जो उत्पन्न हो, न होने से उत्पन्न न हो, वह 'कारण' और उत्पन्न होनेवाला 'कार्य' होता है। यह अन्वयव्यतिरेकलक्षण सारूप्य संशय–कार्य और संशय के कारण–समानधर्माध्यवसाय में विद्यमान है। पुरोवर्त्ती द्रव्य में दो धर्मियों के समानधर्मों का ज्ञान होजाने पर विशेष को जानने की इच्छा से संशय का होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में समानधर्म का निश्चयात्मक ज्ञान संशय को उत्पन्न करता है। यहाँ कार्य-कारण का उक्त सारूप्य नष्ट नहीं होता।

इसीप्रकार अनेकधर्म के अध्यवसाय से संशय होने का जो प्रतिषेध किया, वह भी संगत नहीं है। किसी पदार्थ में अनेकधर्मों का ज्ञान होनेपर जब विशेष जानने की इच्छा होती है, तो संशय का होना अनिवार्य है। इसका उदाहरण लक्षणसूत्र के भाष्य में देखलेवें।

इसके अनन्तर विप्रतिपत्ति, अव्यवस्था और इनके अध्यवसाय से संशय न होने का जो निर्देश कियागया है, वह भी संगत नहीं है। इस विषय में आवश्यक

है, प्रथम हमें 'विप्रतिपत्ति' आदि हेतुओं का अभिप्राय समझलेना चाहिये। पृथक् प्रवादों के आधार पर किसी धर्मी में दो विपरीत धर्मों का ज्ञान होना 'विप्रतिपत्ति' है। ऐसा जाननेपर जब विपरीत धर्मों में से किसी एक धर्मविशेष को जानने की इच्छा होती है, तो संशय का उत्पन्न होजाना अनिवार्य है। विप्रतिपत्ति को केवल सम्प्रतिपत्ति नाम देकर इस संशय का निवारण नहीं होता। एक कहता है आत्मा है; दूसरा कहता है-आत्मा नहीं है। श्रोता जिज्ञासु को संशय होजाता है, कौन-सा वह हेतु है, जिसके द्वारा इन दोनों में से किसी एक विशेष का अवधारण कियाजासके।

ऐसी स्थिति उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से होनेवाले संशय में समझनी चाहिये। उपलब्धि और अनुपलब्धि के अव्यवस्थित रहने के कारण जब किसी वस्तु की उपलब्धि या अनुपलब्धि रहती है, तब उसकी प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को यह संशय होना अनिवार्य है कि यह वस्तु न होती हुई उपलब्ध होरही है, अथवा होती हुई उपलब्ध नहीं होरही है। अव्यवस्था को अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहने के कारण उसे व्यवस्था नाम देदेने से उसकी-संशय उत्पन्न करने की-क्षमता नष्ट नहीं होजाती। फिर अव्यवस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहने से ही अव्यवस्था है। वह व्यवस्था तो तभी होसकती है, जब अपने अव्यवस्था-स्वरूप को छोड़ दे। ऐसी दशा में वस्तु के उपलब्ध या अनुपलब्ध होने पर विशेषरूप से वस्तु के असत् और सत् होने की जिज्ञासा संशय को उत्पन्न नहीं करती; ऐसा प्रतिषेध नहीं कियागया। फलतः अव्यवस्था कहदेनेमात्र से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता।

इसीप्रकार विभिन्न धर्मियों में कोई-न-कोई समान धर्म होने से जो अत्यन्त संशय होने आदि की बात कहीगई है, वह युक्त नहीं है। क्योंकि संशय के लक्षण में यह नहीं कहागया कि कहीं समानधर्म होनेमात्र से संशय उत्पन्न होजाता है। वहाँ यह स्पष्ट कहा है कि संशय होने के लिए समानधर्मविषयक ज्ञान तथा पहले देखे हुए उन धर्मियों के विशेष धर्मों का स्मरण होना आवश्यक है। इसके साथ ही उस समय उन विशेष धर्मों को देखलेने की इच्छा भी होनी चाहिये।

वस्तुतः संशयलक्षणसूत्र में कहेगये संशय-हेतुओं के विषय में दोष प्रस्तुत करने के अवसर पर दोषवादी ने सूत्र के 'विशेषापेक्षः' पद की ओर ध्यान नहीं दिया। दोष देते समय उसकी उपेक्षा की है। अन्यथा संशयलक्षण में किसी दोष की उद्भावना करना सम्भव न होता। इसीकारण जहाँ यह कहागया है कि दो विपरीतधर्मों में से एक का अवधारण होजाने पर संशय नहीं होता, वह ठीक ही है। जब एक विशेषधर्म का निश्चय होगया, तब वहाँ विशेष की अपेक्षा नहीं रहेगी, फिर संशय क्यों होगा? फलतः संशयलक्षण सर्वथा निर्दोष है ॥ ६ ॥

सूत्रकार संशय-परीक्षा को समाप्त करते हुए कहता है—

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥ (६८)

[यत्र] जहाँ [संशयः] संशय (परीक्ष्य हो) [तत्र] वहाँ [एवम्] उक्त प्रकार से [उत्तरोत्तरप्रसंगः] उत्तर-प्रत्युत्तररूप में प्रसङ्ग (प्रस्तुत करदियाजाना चाहिये)।

जहाँ-जहाँ आगे शास्त्र में प्रमाण आदि पदार्थों के लक्षणों की परीक्षा कीगई है, अथवा वाद, जल्प, वितण्डा-कथाओं में जब कभी ऐसा अवसर आता है कि प्रतिवादी के द्वारा संशय का प्रतिषेध कियाजाय, तो उन सभी अवसरों पर उक्तप्रकार से संशय के पक्ष में समाधान करदेना चाहिये। पदार्थविषयक समस्त परीक्षाओं में व्याप्त रहने के कारण सर्वप्रथम संशय की परीक्षा प्रस्तुत करदी गई है, जिससे शास्त्र के अध्येताओं को इस विषय में किसीप्रकार की असुविधा न हो ॥ ७ ॥

प्रमाण-परीक्षा—अब आगे प्रमाण पदार्थ की परीक्षा प्रस्तुत कीजाती है। सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में कहा—

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ ८ ॥ (६९)

[प्रत्यक्षादीनाम्] प्रत्यक्ष आदि का [अप्रामाण्यम्] प्रामाण्य नहीं, [त्रैकाल्यासिद्धेः] तीनों कालों में असिद्ध होने से।

सूत्र के 'आदि' पद से अनुमान, उपमान, शब्द का ग्रहण होजाता है। प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों का प्रामाण्य सम्भव नहीं; क्योंकि प्रत्येक प्रमाण तीनों [भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्] कालों में प्रमेय को सिद्ध नहीं करता। प्रमाण का प्रामाण्य इसी बात पर निर्भर है कि वह पहले से किसी न जाने हुए प्रमेय का विना किसी बाधा के बोध करादे। प्रत्यक्ष प्रमाण केवल वर्त्तमानकालिक विषय का बोध करासकता है, वह भी निश्चयपूर्वक अथवा सर्वथा निर्बाध नहीं। भूत-भविष्यत्कालिक अर्थ का बोध कराने में यह सर्वथा अक्षम रहता है। यही दशा उपमान प्रमाण की है। शब्द यद्यपि भूतकालिक घटना के अतिरिक्त कभी-कभी वर्त्तमान व अनागत बोध कराने का दम भरता है, पर उसकी यथार्थता सदा सन्दिग्ध रहती है, जो उसके प्रामाण्य के कदम को उखाड़ देती है। अनुमान-प्रमाण का प्रयोग तीनों कालों के विषय में कियाजाता है, पर वह भी सर्वदा असन्दिग्ध नहीं रहता। दीर्घ अतीत और अनागत काल के विषय में कुछ बोध कराना सर्वथा अनिश्चित रहता है। कथञ्चित् अनुमान-प्रमाण को त्रिकाल-विषयक मान भी लियाजाय, तो उतनेमात्र से शेष प्रमाणों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं कियाजासकता।

इसके अतिरिक्त प्रमाण और प्रमेय का परस्पर पूर्वापरभाव एवं सहभाव भी नहीं बनता। यदि प्रमाण पहले है, और प्रमेय पीछे, तो प्रमा का साधन हुए विना ही वह 'प्रमाण' कैसे होजायगा, यदि प्रमेय पहले सिद्ध है, तो प्रमाण का होना अनावश्यक है। यदि दोनों साथ हैं, तो सव्येतर विषाण के समान उनका परस्पर साध्य-साधनभाव सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य हवा होजाता है। इनसे किसी प्रमेय के सिद्ध होने की आशा निराशामात्र है ॥ ८ ॥

प्रमाण का पूर्वभाव—प्रमाण प्रमेय के परस्पर पूर्वापरसहभाव की असम्भावना को क्रमशः सूत्रकार स्वयं पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत करता है—

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्
प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥ (७०)

[पूर्वम्] पहले [हि] क्योंकि [प्रमाणसिद्धौ] प्रमाण की सिद्धि होने पर [न] नहीं [इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्] इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से [प्रत्यक्षोत्पत्तिः] प्रत्यक्ष की उत्पत्ति।

यदि प्रमेय से पहले प्रमाण की सिद्धि है, विद्यमानता है; और उस समय प्रमेय (ज्ञातव्य अर्थ) अविद्यमान है; (तो) जो यह कहागया है कि इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है-वह असंगत होजायगा; क्योंकि ज्ञेय अर्थ (प्रमेय) के अविद्यमान रहने से इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष असम्भव होगा; अर्थ ही नहीं, तो उसके साथ सन्निकर्ष कैसा? इसलिए गन्धादिविषयक प्रत्यक्षज्ञान पहले, और गन्धादि का अस्तित्व अनन्तर काल में होने से यह परिणाम सामने आता है कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष हुए विना ही होजाता है, जो प्रत्यक्षलक्षण के अनुकूल न होने से अवाञ्छनीय है ॥ ९ ॥

प्रमाण का परभाव—प्रमाण का पीछे होना भी युक्त नहीं, क्योंकि—

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ १० ॥ (७१)

[पश्चात्] पीछे [सिद्धौ] सिद्ध होने पर (प्रमाण के) [न] नहीं [प्रमाणेभ्यः] प्रमाणों से [प्रमेयसिद्धिः] प्रमेय की सिद्धि।

यदि प्रमेय-ज्ञातव्य अर्थ प्रमाण की उपस्थिति से पहले ही सिद्ध है, निश्चित है, तो यह कहना व मानना असंगत होगा कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से होती है। प्रमाण के न रहने पर यदि प्रमेय-ज्ञातव्य अर्थ जानलियाजाता है, तो प्रमाण का स्वीकार करना व्यर्थ है। वस्तुतः प्रमाण के द्वारा जानागया अर्थ 'प्रमेय'-रूप में सिद्ध—निश्चित होता है। फलतः प्रमाण-प्रमेय की यह स्थिति सम्भव न होने से प्रत्यक्ष का प्रामाण्य लुप्त होजाता है ॥ १० ॥

प्रमाण का सहभाव—प्रमाण-प्रमेय का सहभाव भी सम्भव नहीं; क्योंकि—

युगपत् सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाऽभावो बुद्धीनाम् ॥ १९ ॥ (७२)

[युगपत्] एक-साथ (प्रमाण और प्रमेय की) [सिद्धौ] सिद्धिः—विद्यमानता मानने पर, [प्रत्यर्थनियतत्वात्] प्रत्येक अर्थ—विषय के लिए इन्द्रियों के नियत होने से [क्रमवृत्तित्वाऽभावः] क्रमपूर्वक वृत्ति का होना नहीं रहेगा [बुद्धीनाम्] बुद्धियों ज्ञानों की।

घ्राण आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय गन्ध आदि अर्थ हैं। यहाँ घ्राण प्रमाण' और गन्ध 'प्रमेय' है। कोई ज्ञान एक काल में एक विषय को ग्रहण करता है, अथवा एक विषय का बोध कराता है। एक काल में एक ज्ञान का कोई एक अर्थविशेष—विषय नियत होने के कारण ज्ञानों का क्रमपूर्वक होना मानाजाता है। यदि प्रमाण और प्रमेय दोनों की युगपत् सिद्धि अर्थात् एक ही काल में ज्ञान होना मानाजाय, तो ज्ञानों का क्रमपूर्वक होना सम्भव न रहेगा, जो अवाञ्छनीय है। ऐसा मानना उस कथन के विरुद्ध है, जहाँ यह कहा गया है कि—युगपत् ज्ञानों का उत्पन्न न होना मन के अस्तित्व का चिह्न है [१।१।१६]।

इसके अतिरिक्त यह भी समझने की बात है कि घ्राण आदि प्रमाण का ज्ञान अनुमान से होने के कारण अनुमितिरूप है; इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, उनका प्रत्यक्ष नहीं होसकता। परन्तु घ्राण से होनेवाला गन्ध—प्रमेय का ज्ञान प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में प्रमाण का अनुमितिरूप ज्ञान तथा प्रमेय का प्रत्यक्षरूप ज्ञान दोनों का एक-साथ होना असम्भव है। दोनों विजातीय ज्ञान हैं, युगपत् नहीं होसकते।

प्रत्यक्ष के समान यही स्थिति अनुमान तथा शब्द-प्रमाण में समझनी चाहिये। अनुमान में व्याप्तिज्ञान प्रमाणान्तर्गत तथा अग्निज्ञान प्रमेयान्तर्गत है। यहां प्रमाण व्याप्तिज्ञान स्मृतिरूप तथा प्रमेय अग्निज्ञान अनुभवरूप होने से दोनों विजातीय ज्ञानों का युगपत् होना असम्भव है। इसीप्रकार शब्द-प्रमाण में पदज्ञान प्रमाणान्तर्गत तथा अर्थबोध प्रमेयान्तर्गत आता है। इसमें श्रोत्रेन्द्रिय से पद का ग्रहण होने के कारण पदज्ञान प्रत्यक्ष है, तथा उससे होनेवाला पदार्थ-विषयक शाब्दबोध परोक्षरूप[1] होने से दोनों विजातीय ज्ञान युगपत् नहीं होसकते।

१. यह भाव विश्वनाथ पञ्चानन ने इस सूत्र की वृत्ति में अभिव्यक्त किया है। परन्तु शाब्दबोध को अनुभूतिरूप न मानना कहाँ तक ठीक है, विचारणीय है। आचार्यों ने ज्ञान को स्मृति और अनुभवरूप मानकर अनुभव के चार भेद स्वीकार किये हैं, जिनमें चौथा शाब्दबोध है।

ज्ञान चाहे सजातीय हो अथवा विजातीय, दो ज्ञान एक-साथ नहीं होसकते। प्रस्तुत प्रसंग में प्रमाण-प्रमेय ज्ञानों का वैजात्य कार्य-कारणभाव के आधार पर समझना चाहिये। प्रमाण कारण और प्रमेय कार्य रहता है। कार्य-कारण का युगपत् होना सम्भव नहीं; उस स्थिति में कार्य-कारणभाव नष्ट होजायगा। फलतः प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापरभाव एवं सहभाव की व्यवस्था सम्पन्न न होने से प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य स्थापित नहीं कियाजासकता। इससे अतिरिक्त प्रमाण आदि का अन्य कोई क्षेत्र कल्पना कियाजाना सम्भव नहीं; अतः प्रमाणों का उक्त उपपादन असंगत है।

प्रत्यक्ष आदि के अप्रामाण्य का समाधान—प्रमाणविषयक इस विस्तृत पूर्वपक्ष का समाधान निम्नरूप में कियाजाना चाहिये—

१. प्रमाण और प्रमेय के परस्पर पूर्वभाव, अपरभाव और सहभाव के आधार पर आपत्ति उठाईगई है। उपलब्धि (प्रमा) का हेतु 'प्रमाण' और उपलब्धि (प्रमा) का विषय (अर्थ) 'प्रमेय' कहाजाता है। इन प्रमाण और प्रमेय के पूर्व-अपर-सहभाव की कोई नियत व्यवस्था नहीं है कि प्रमाण पहले हो, और प्रमेय पीछे; अथवा प्रमेय पहले हो और प्रमाण पीछे। इनके पूर्वापरभाव में प्रत्येक स्थिति देखीजाती है। कहीं प्रमाण पूर्व है, कहीं पर, और कहीं साथ-साथ। जैसे- उत्पन्न होनेवाले पदार्थों (प्रमेयों) के जानने के लिए आदित्य का प्रकाशरूप प्रमाण पहले विद्यमान रहता है। यहाँ प्रमाण पहले और उत्पन्न होनेवाले प्रमेय पदार्थ पीछे आते हैं। मकान में पहले से विद्यमान पदार्थों को देखने-जानने के लिए उपलब्धि का हेतु प्रमाणरूप प्रदीप पीछे आता है। यहाँ प्रमेय पहले और प्रमाण पीछे है। जहाँ धूम से अग्नि का अनुमान होता है, वहाँ धूम प्रमाण और अग्नि प्रमेय दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। इसलिए इनके पूर्वादिभाव की कोई नियत व्यवस्था न होने से जहाँ जैसा देखाजाय, उसीके अनुसार पूर्व-अपर-सहभाव समझना चाहिये। अतः उक्त आधारों पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रतिषेध संगत नहीं है।

२. दूसरी बात यह कहीगई है कि यदि प्रमाण को पीछे और प्रमेय को पहले मानाजाता है, तो पदार्थ को 'प्रमेय' नाम देना निराधार होगा। कोई पदार्थ 'प्रमेय' तभी कहाजासकता है, जब वह प्रमा (ज्ञान) का विषय हो; उपलब्धि (प्रमा) के हेतु प्रमाण की अविद्यमानता में किसी पदार्थ के प्रमा-विषय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तब प्रमाण से पहले कोई पदार्थ 'प्रमेय' कहाजाय,

---

प्रत्यक्ष और अनुमान में प्रमाण अप्रत्यक्षरूप तथा प्रमेय अनुभूतिरूप है; इसके विपरीत शब्द-प्रमाण में प्रमाण प्रत्यक्षरूप तथा प्रमेय अप्रत्यक्ष (परोक्ष अर्थात् शब्द) रूप है; यह वैलक्षण्य भी समाधेय है।

यह सम्भव नहीं। अतः प्रमाण की अविद्यमानता में किसी पदार्थ को 'प्रमेय' कहाजाना असिद्ध होगा।

'प्रमाण-प्रमेय' पदों का प्रवृत्तिनिमित्त—इस विषय में यह समझना चाहिये, कि 'प्रमाण' तथा 'प्रमेय' पद का प्रवृत्तिनिमित्त (इनको यह नाम दियेजाने का कारण) यथाक्रम 'उपलब्धि (प्रमा) का हेतु' तथा 'उपलब्धि (प्रमा) का विषय' होना है। इस प्रवृत्तिनिमित्त का सम्बन्ध तीनों कालों के साथ रहता है। प्रमा का हेतु प्रमाण चाहे प्रमा को अतीत-वर्त्तमान-अनागत काल में कभी उत्पन्न करे, उसमें प्रमाणता सदा बनी रहती है। इसीप्रकार पदार्थ प्रमा का विषय चाहे जब हो, उसकी प्रमेयता नष्ट नहीं होती। इसलिए प्रमाण या प्रमेय के परस्पर आगे-पीछे होने से उनके प्रमाणभाव अथवा प्रमेयभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

३. प्रस्तुत प्रसंग में किसी नाम-पद के प्रवृत्तिनिमित्त का तीनों कालों से सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक है; अन्यथा लोकव्यवहार असम्भव होगा। एक व्यक्ति कहता है—पाचक को लेआओ, वह भोजन पकाया करेगा। यहाँ 'पाचक' पद का प्रवृत्तिनिमित्त 'भोजन पकाना' है। उसकी व्यवस्था भविष्यत् काल में होने पर भी उस व्यक्ति के लिए 'पाचक' पद का प्रयोग पहले ही होता रहता है। इसीप्रकार सब जगह गाँवों में जब फसल काटने का समय समीप आता दीखता है, तभी किसान फसल काटनेवाले व्यक्तियों की खोज में लगजाता है। संस्कृत में फसल काटनेवाले व्यक्ति को 'लावक' कहाजाता है। हिन्दी में आजकल 'लावा' बोलते हैं। फलतः काटेजाने का कार्य प्रारम्भ होने से पहले ही उन व्यक्तियों के लिए उक्त पदों का प्रयोग बराबर कियाजाता है। इससे यह प्रमाणित होता है, कि जिस क्रिया के निमित्त से किसी का कोई नाम रक्खाजाता है, वह क्रिया चाहे भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान [पूर्व-सह-पर] किसी काल में सम्भव हो; उस निमित्त से निर्धारित नाम-पद का प्रयोग बराबर होता रहता है; वह सर्वथा संगत है। प्रमाण, प्रमेय आदि पद भी ऐसे ही हैं।

४. इस विषय में एक बात और ध्यान देने की है। वादी ने तीनों कालों में असिद्ध होने से प्रत्यक्ष आदि का अप्रामाण्य बताया। इस कथन से वादी क्या तात्पर्य प्रकट करना चाहता है ? यह उससे पूछना चाहिये। इस प्रतिषेध से क्या वह प्रमाणों की सम्भावना को ही हटाना चाहता है, अथवा उनकी असम्भावना को बतलाना चाहता है ? यदि पहले कथन के अनुसार वह प्रमाण की सम्भावना को हटाना चाहता है, तो इसका यह तात्पर्य है, कि उसने प्रमाणों की सम्भावना को प्रथम स्वीकार करलिया है। वह प्रतिषेध के द्वारा हटाईजासकेगी, या नहीं; यह अगली बात है। प्रमाणों की सम्भावना को स्वीकार किये बिना प्रतिषेध प्रवृत्त नहीं होसकता।

यदि दूसरे कथन के अनुसार वादी प्रमाणों की असम्भावना का बोध कराना चाहता है, तो बोध-ज्ञान कराने के कारण प्रतिषेध स्वयं प्रमाणभाव को प्राप्त करलेना है। किसी अर्थ के बोध–प्रमा का कारण होना ही तो 'प्रमाण' का स्वरूप है। जब प्रतिषेध स्वयं–प्रमाणों के असम्भव होने की उपलब्धि का हेतु बनगया, तो प्रमाण का प्रतिषेध कहाँ हुआ ? प्रतिषेध के प्रमाणस्वरूप होने से प्रमाण स्वतः सिद्ध होजाता है ॥ ११ ॥

अप्रामाण्य के 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु का उसके प्रतिषेध में प्रयोग—सूत्रकार स्वयं–वादी के द्वारा प्रत्यक्षादि के अप्रामाण्य में दियेगये 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु का प्रतिषेध में प्रयोग करके–प्रतिषेध की अनुपपत्ति को बताता है—

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥ (७३)

[त्रैकाल्यासिद्धेः] तीनों कालों में सिद्ध न होने से [प्रतिषेधानुपपत्तिः] प्रतिषेध अनुपपन्न है।

कोई प्रतिषेध वाक्य जिसके प्रतिषेध के लिए प्रवृत्त होगा, वह उसका 'प्रतिषेध्य' होगा। अब देखना चाहिये, यदि प्रतिषेध्य की अविद्यमानता में प्रतिषेध पहले प्रवृत्त होता है, तो वह किसका प्रतिषेध करता है ? प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य–तो तबतक है नहीं; ऐसी स्थिति में प्रतिषेध व्यर्थ है। यदि प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य पहले सिद्ध है, पश्चात् प्रतिषेध उपस्थित होना है; तो प्रतिषेध स्वयं असिद्ध होजायगा; क्योंकि पूर्वसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रामाण्य का–पश्चात् सिद्ध प्रामाण्य-प्रतिषेध से–प्रतिषेध होना युक्त नहीं मानाजासकता। सिद्ध वस्तु का प्रतिषेध असम्भव है। यदि प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादि-प्रामाण्य और उसके प्रतिषेध को युगपत् स्वीकार कियाजाता है, तो प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादिप्रामाण्य की सिद्धि को स्वीकार करलियेजाने से उसका प्रतिषेध व्यर्थ व असंगत होगा। ऐसी स्थिति में प्रतिषेध वाक्य के सर्वथा अनुपपन्न होने से प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य सुतरां सिद्ध होजाता है ॥ १२ ॥

प्रमाणों के अभाव में प्रतिषेध की अनुपपत्ति—सूत्रकार ने अन्य प्रकार से प्रतिषेध की अयुक्तता को स्पष्ट किया—

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥ (७४)

[सर्वप्रमाणप्रतिषेधात्] सब प्रमाणों के प्रतिषेध से [च] भी [प्रतिषेधानुपपत्तिः] प्रतिषेध अनुपपन्न–असंगत–अयुक्त होजाता है।

वादी ने प्रत्यक्ष आदि के प्रामाण्य का प्रतिषेध करने के लिए अनुमान का प्रयोग किया–'प्रत्यक्षादीनां अप्रामाण्यम्, त्रैकाल्यासिद्धेः' यहाँ प्रत्यक्षादि पक्ष में अप्रामाण्य साध्य है। हेतु दिया–'त्रैकाल्यासिद्धेः'। वादी ने यहाँ हेतु और साध्य की व्याप्ति को स्पष्ट व पुष्ट करने की दृष्टि से उदाहरण का निर्देश नहीं

किया। उदाहरण का निर्देश करने पर यह स्पष्ट होजाता है कि हेतु अपने साध्य अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ है। अनुमान के इन तीन अवयवों के पूर्ण होने पर प्रत्यक्षादि के प्रामाण्य को हटाया नहीं जा सकता। पहले तो यही स्पष्ट है कि अप्रामाण्य की सिद्धि करने के लिए प्रयुक्त अनुमान स्वतः प्रमाण है। यदि उसके प्रामाण्य को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो प्रत्यक्षादि का अप्रामाण्य असिद्ध रहजाता है।

दूसरे बात यह है, अनुमान में प्रयुक्त अवयवों को सब प्रमाणों का प्रतीक[1] मानागया है। प्रतिज्ञा 'शब्द' रूप है, हेतु अनुमान का तथा उदाहरण प्रत्यक्ष का प्रतीक है। प्रामाण्य-प्रतिषेध अनुमान में वादी के द्वारा उदाहरण का निर्देश करदेने पर यह अनुमान का प्रयोग ही अवयवों के रूप में सब प्रमाणों के प्रामाण्य को समर्थित करदेता है। यदि यह अनुमान वास्तविकरूप से प्रत्यक्षादि के अप्रामाण्य को सिद्ध करदेता है, तो उक्त अनुमान में उदाहरण का निर्देश होजाने पर वह अपने अर्थ को सिद्ध करने में स्वतः असमर्थ रहेगा। क्योंकि वह प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कियागया है, जबकि उसका अप्रामाण्य सिद्ध कियाजाचुका है। यदि वादी अपने प्रयुक्त अनुमान में उदाहरण का निर्देश नहीं करता, तो हेतु और साध्य की व्याप्ति के असिद्ध रहने से हेतु अपने साध्य अर्थ को सिद्ध करने में अक्षम रहता है। तब भी प्रत्यक्षादि का अप्रामाण्य सिद्ध न होने से प्रामाण्य स्वतः बना रहता है।

इसके अतिरिक्त, प्रतिषेधवाक्य में प्रयुक्त हेतु वस्तुतः हेतु न होकर हेत्वाभास है। यह सभी प्रमाणों के विपरीत है, तथा जिस सिद्धान्त को स्वीकार कर प्रयुक्त कियागया है, उसीका विरोध करता है। उसका सिद्धान्त यह प्रतिपादन करना है कि—प्रत्यक्षादि किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करते, अतः उनका प्रामाण्य स्वीकार नहीं कियाजाना चाहिये। परन्तु प्रतिषेध-अनुमानवाक्य में प्रतिज्ञा आदि अवयवों का निर्देश अपने अभिमत अर्थ को सिद्ध करने के लिए कियागया। यदि वह इसको पूरा करता है, तो अपने स्वीकृत इस सिद्धान्त का व्याघात करता है कि—प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अर्थ को सिद्ध नहीं करते। क्योंकि प्रतिषेध-वाक्य स्वयं प्रमाणरूप में प्रस्तुत होकर अर्थ को सिद्ध करता है। यदि प्रतिषेध-वाक्य का किसी अर्थ की सिद्धि के लिए प्रयोग नहीं किया गया, तो उदाहरण में हेतु—बोध्य-अर्थ को न बताने या दिखलाने के कारण यह प्रतिषेध किसी अर्थ का साधक न होने से स्वतः अनुपपन्न—अयुक्त होजाता है। इसप्रकार प्रतिषेध-वाक्य में प्रयुक्त हेतु वस्तुतः हेत्वाभास है; अतः निर्दिष्ट साध्य का साधक न होने से प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य निर्बाध बना रहता है। फलतः सब

---

१. देखें—सूत्र [१।१।३९] का विद्योदयभाष्य।

प्रमाणों के प्रामाण्य का यदि प्रतिषेध कियाजाता है, तो इसका साधक प्रतिषेध स्वतः अनुपपन्न होजाता है ॥ १३ ॥

प्रतिषेध के प्रामाण्य में प्रत्यक्षादि का अप्रामाण्य असंगत—यदि इसका प्रामाण्य फिर भी मानाजाता है, तो समस्त प्रमाणों के प्रामाण्य का प्रतिषेध असम्भव होगा, सूत्रकार ने स्वयं यह बताया—

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (७५)

[तत्प्रामाण्ये] प्रतिषेधरूपवाक्य के प्रामाण्य को स्वीकार करने पर [वा] अथवा, यदि [न] नहीं [सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः] समस्त प्रमाणों का प्रतिषेध।

प्रतिषेध अनुमान-वाक्य में प्रयुक्त प्रतिज्ञा आदि अवयवों में आश्रित प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रामाण्य यदि स्वीकार कियाजाता है, तो अन्य वक्ता के द्वारा प्रयुक्त अनुमान-वाक्य के प्रतिज्ञा आदि अवयवों में आश्रित प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य भी निर्बाधरूप से स्वीकार करना होगा। क्योंकि अनुमानवाक्य सभी समान हैं। वस्तुतः प्रामाण्यप्रतिषेध वाक्य के प्रामाण्य को स्वीकार करना ही प्रामाण्यप्रतिषेध की जड़ को उखाड़ देता है, क्योंकि वह प्रामाण्यप्रतिषेध-वाक्य स्वयं प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कियागया है। उसीको दृष्टान्त मानकर सभी प्रमाणों का प्रामाण्य सिद्ध होजाता है।

सूत्र के 'विप्रतिषेधः' पद में 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'विरोध' न समझकर 'विशेष' समझना चाहिये। क्योंकि वैसा अर्थ मानने पर सूत्र का प्रतिपाद्य प्रयोजन उलटजाता है। विरोध अर्थ मानने पर 'विप्रतिषेध' का अर्थ होगा—प्रतिषेध का विरोध अर्थात् प्रतिषेधाभाव। उसका—सूत्रपठित 'न' पद से निषेध होने पर—सब प्रमाणों का प्रतिषेध—सूत्रार्थ प्राप्त होगा, जो प्रतिपाद्य प्रयोजन से विपरीत होने के कारण सम्भव नहीं ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षादि-प्रामाण्य त्रिकालसिद्ध—वादी ने प्रामाण्य-प्रतिषेध मे 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु दिया। परन्तु प्रमाणों की प्रमेयबोधकता यथायथ तीनों कालों में देखी जाती है। इस आधार पर सूत्रकार ने उक्त हेतु के असांगत्य को स्पष्ट करते हुए बताया—

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्
तत्सिद्धेः ॥ १५ ॥ (७६)

[त्रैकाल्याप्रतिषेधः] तीनों कालों में प्रमाणों की प्रमेयग्राहकता का प्रतिषेध संगत नहीं [च] तथा [शब्दात्] शब्द-ध्वनि से [आतोद्यसिद्धिवत्] आतोद्य (बाजा) की सिद्धि के समान [तत्सिद्धेः] प्रमाणों की त्रैकाल्यसिद्धि से, अथवा प्रमाणों से तीनों कालों में प्रमेय की सिद्धि होने से।

प्रमाण और प्रमेय के परस्पर पूर्वापरसहभाव को लक्ष्य कर यहाँ त्रैकाल्य का कथन है। तात्पर्य है, जहाँ जैसा सम्भव हो, प्रमाण प्रमेय के पूर्व अपर या साथ रहता हुआ उसका बोधक होता है। इसका विवरण प्रथम [२। १। ११] सूत्र की व्याख्या में दियागया है, उसका आधार इसी सूत्र को समझना चाहिये।

प्रमाण प्रमेय का ग्रहण—प्रमेय के पहले, पीछे या साथ रहकर—नहीं कर-सकता; ऐसा प्रतिषेध सर्वथा असंगत है। कारण यह है कि यथासम्भव सभी स्थितियों में प्रमाण द्वारा प्रमेय का ग्रहण कियाजाता है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में उसके एक प्रकार का उदाहरण निर्दिष्ट किया—'शब्दात् आतोद्यसिद्धिवत्'। 'आतोद्य' बाजे को कहते हैं। जब किसी मकान के अन्दर अथवा व्यवहित स्थान में बाजा बजाया जारहा है, दूरस्थित पुरुष उसकी ध्वनि को सुनता है; ध्वनि की विशिष्टता से वह समझलेता है कि यह वीणा बजाई जारही है या बाँसुरी; अथवा सितार बजाया जारहा है या हारमोनियम। यहाँ पर आतोद्य पहले से विद्यमान है, और ध्वनि बाद में कीजाती है। ध्वनि से श्रोता आतोद्य को पहचान लेता है, अथवा अनुमान करलेता है। इसप्रकार आतोद्य साध्य—प्रमेय है, और ध्वनि साधन—प्रमाण। ऐसे प्रसङ्गों में पहले से सिद्ध—विद्यमान साध्य का, पीछे होनेवाले ध्वनिरूप साधन—प्रमाण से बोध होता है। यहाँ साध्य 'पूर्व' और साधन 'अपर' है।

सूत्रकार ने नमूने के तौर पर एक प्रकार का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर-दिया है। इसीके अनुसार अन्य विधाओं के उदाहरण गत ग्यारहवें सूत्र के भाष्य में प्रस्तुत करदिये हैं। उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के देखने के लिए आदित्य-प्रकाश पहले से विद्यमान रहता है; यहाँ प्रकाश—प्रमाण पहले और प्रमेय पश्चात् रहता है। धूम से अग्नि के अनुमान में प्रमाण—प्रमेय दोनों साथ रहते हैं। वस्तुभूत अर्थ का उपपादन किसी अपेक्षित अवसर पर करदेना उपयुक्त होता है। प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापरसहभाव को—यहाँ वा वहाँ—कहीं से भी समझाजासकता है। यथार्थता को जाननामात्र अभीष्ट है।

'प्रमाण-प्रमेय' व्यवहार प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार—यह आवश्यकरूप में समझरखना चाहिए—प्रमाण, प्रमेय आदि पद अपने प्रवृत्तिनिमित्त के कारण इन नामों से विशिष्ट अर्थों का बोध कराते हैं। उपलब्धि का हेतु 'प्रमाण' और उपलब्धि का विषय 'प्रमेय' मानाजाता है। इन नाम-पदों का यही प्रवृत्तिनिमित्त है। जो वस्तु उपलब्धि की हेतु है, वह 'प्रमाण' कहीजायगी। वही जब उपलब्धि का विषय होजाती है, तब 'प्रमेय' मानीजाती है। कोई भी पदार्थ निर्दिष्ट प्रवृत्तिनिमित्त के कारण 'प्रमाण' अथवा 'प्रमेय' पद से व्यवहृत होता है। चक्षु रूप की उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण कहाजाता है। वही जब उपलब्धि का विषय होजाता है, तब प्रमेय है। एक ही अर्थ प्रवृत्तिनिमित्तवश प्रमाण और

प्रमेय होसकता है; इसमें कोई विरोध नहीं है। यही स्थिति प्रत्यक्ष आदि पदार्थ के विषय में लागू होती है। वह प्रमाण भी होता है और प्रमेय भी ॥ १५ ॥

प्रमाण-प्रमेयभाव तुलाप्रामाण्य के समान—उक्त अर्थ की अधिक स्पष्टता के लिए सूत्रकार ने यह और बताया—

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥ (७७)

[प्रमेयता] प्रमेय होना [च] तथा [तुलाप्रामाण्यवत्] तुला के प्रमाण होने के समान समझना चाहिए।

सूत्र में 'तुला' पद का अर्थ—बाट-समेत तराज़ू—है। साधारणतया 'तुला' का अर्थ केवल तराज़ू समझाजाता है। पर मुख्यतया तुला 'बाट' है; क्योंकि किसी वस्तु का भार बाट के आधार पर सन्तुलित होता है। तराज़ू केवल 'बाट' के उपयोग का साधन है। इसलिए प्रस्तुत प्रसङ्ग में तुला की सीमा में से बाट को निकाल देना सम्भव न होगा।

तराज़ू के एक पलड़े में एक किलो का बाट रख उसके बराबर सोना तोलागया। यहाँ भार के ज्ञान का साधन तुला (बाट सहित तराज़ू) प्रमाण है, और ज्ञान का विषय गुरुद्रव्य सुवर्ण प्रमेय है। जब उसी सन्तुलित एक किलो सुवर्ण पिण्ड को बाट की जगह रखकर अन्य किसी गुरुद्रव्य के किलो-भार का बोध कियाजाता है उस समय पहले का प्रमेय सुवर्णपिण्ड अब प्रमाण होजाता है, तथा जो द्रव्य तोलाजाता है, वह प्रमेय रहता है। इसीप्रकार समस्त शास्त्र-प्रतिपाद्य अर्थ को समझने का प्रयास करना चाहिए।

इसीके अनुसार आत्मा उपलब्धि का विषय होने से—प्रमेयों में पढ़ागया है [१।१।९]। उपलब्धि में स्वतन्त्र होने से वह प्रमाता है। इसीप्रकार बुद्धि[1] [अन्तःकरण मन] उपलब्धि का साधन होने से 'प्रमाण' कहाजाता है, यही जब उपलब्धि का विषय होता है, तो 'प्रमेय' रहता है। परन्तु उस समय बुद्धि[2] प्रमिति है, जब न प्रमाण हो न प्रमेय। प्रमाण से होनेवाले ज्ञान का नाम

---

१. 'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' यहाँ करण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय समझना चाहिए।

२. यह पद 'बोधनं बुद्धिः' भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय होने से निष्पन्न होता है। ये पद दो हैं, इनकी निष्पत्ति भिन्न है और अर्थ भी। केवल आकृति [वर्णानुपूर्वी] समान है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा उदाहरणरूप से इसका उल्लेख विचारणीय है। ज्ञानसाधन बुद्धि का ज्ञान-रूप होना न्यायमतानुसार कहाँ तक औचित्य रखता है, यह भी विचार्य है। फिर भी एक ज्ञान अन्य ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त होता है; सविकल्पक ज्ञान के होने में निर्विकल्पक ज्ञान साधन मानाजाता है। अनुभव-ज्ञान स्मृतिज्ञान का जनक होता है। इसीके अनुसार ज्ञानपर्याय 'बुद्धि' पद का उल्लेखकर भाष्य में उदाहरण दियाजाना सम्भव है।

'प्रमिति' है; वह न प्रमाण होता है, न प्रमेय। इसप्रकार इन पदों का प्रयोग प्रवृत्तिनिमित्त के कारण विभिन्न अर्थों में होता रहता है।

कारक पदों का प्रयोग प्रवृत्तिनिमित्त के अधीन—कारक शब्दों का प्रयोग प्रवृत्तिनिमित्त के अधीन इसीप्रकार विभिन्न अर्थों में बराबर देखाजाता है। जब क्रिया के प्रति कर्त्ता का स्वातन्त्र्य प्रकट करना अभीष्ट होता है, तब कर्त्ता कारक के रूप में पद का प्रयोग होता है–'वृक्षस्तिष्ठति', यहाँ अपनी स्थिति में वृक्ष का स्वातन्त्र्य अभिव्यक्त कियागया। 'वृक्षः' पद कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त है। यही कर्तृ-पद उस समय क्रिया का कर्म बनजाता है, जब अन्य कर्त्ता के लिए देखने-जानने आदि क्रियाओं में अभीष्ट रहता है–'चैत्रः वृक्षं पश्यति, वृक्षं जानाति' इत्यादि। जब वही कारक अन्य किसी को बोधन कराने का साधन बनजाता है, तब वह करण-कारक के रूप में प्रयुक्त होता है–'वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयति'। दूज का चाँद आसानी से किसीको दिखाई नहीं देरहा। दूसरे व्यक्ति ने–जो स्पष्ट देखरहा था, कहा–देखो, उस वृक्ष के ठीक ऊपर से इस दिशा में नज़र डालो, चाँद की कोर वहाँ दिखाई देगी। वह व्यक्ति इसप्रकार चाँद को देखलेता है। यहाँ चाँद के दीखने में 'वृक्ष' साधन होकर करण-कारक के रूप में प्रस्तुत होता है। जब वृक्ष को जल से सींचना अभिप्रेत हो, तब यही 'वृक्ष'-पद सम्प्रदान-कारक रूप में प्रयुक्त होता है–'वृक्षाय जलमासिञ्चति'। जब स्थिर वृक्ष से पत्ता आदि अलग होकर गिरजाता है, वहाँ यह पद अपादान-कारक में प्रयुक्त होगा–'वृक्षात् पर्णं पतति।' जब यह किन्हीं का आधार बनकर प्रयोग में आता है, तब यह अधिकरण-कारक है–'वृक्षे पक्षिणः वसन्ति'-वृक्ष पर पक्षी बसेरा लेते हैं।

इसके अनुसार स्पष्ट है–केवल क्रिया अथवा केवल द्रव्य कारक नहीं होता, प्रत्युत क्रिया का निमित्त होते हुए क्रिया के साथ सम्बन्ध-विशेष होना कारक का स्वरूप है। यदि ऐसा न हो, तो कर्त्ता आदि कारकों का एक जगह समावेश होना सम्भव न होगा। कोई द्रव्य किसी कारक का रूप तभी पकड़ता है, जब उसका क्रिया के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध हो। सम्बन्ध की विविधता कारक के वैविध्य का उद्भावक है। जब क्रिया को सिद्ध करनेवाला स्वतन्त्रता से–अन्यनिरपेक्ष होकर–क्रिया को करनेवाला होता है, तब वह कर्त्ता कारक है। केवल क्रिया अथवा क्रिया-रहित केवल द्रव्य कर्त्ता-कारक नहीं होता। वही कर्त्ता-कारक उस समय कर्म-कारक होजाता है, जब क्रिया उसपर व्याप्त होकर अपना प्रभाव डालती है। वही कर्म-कारक उस समय करण-कारक बनजाता है, जब वह क्रिया की अभिव्यक्ति में अतिशय साधन के रूप में उपस्थित होता है। ऐसे ही अन्य कारकों के विषय में समझना चाहिए।

इसप्रकार कारक का कथन जैसे उपपत्ति [पदनिर्वचन आदि] के द्वारा होता है, ऐसे ही उनके शास्त्रोक्त लक्षणों के द्वारा होता है; केवल द्रव्य अथवा

केवल क्रिया से कारक का स्वरूप उभरना सम्भव नहीं होता। उपपत्ति से कारक का स्वरूप उभरता है। जैसे-क्रिया में स्वतन्त्र होने से कर्त्ता-[क्रियायां स्वातन्त्र्यात् कर्त्ता]; तथा अन्य में समवेत क्रिया के फल से प्रभावित होने के कारण कर्म-[परसमवेतक्रियाफलशालित्वात् कर्म] कारक अपना रूप प्राप्त कर लेता है। लक्षण से भी कारक का स्वरूप स्पष्ट होता है; जैसे-कर्त्ता का लक्षण है-क्रिया के सिद्ध करने में स्वतन्त्र होना [क्रियासाधने स्वतन्त्रः कर्त्ता भवति]। कर्म का लक्षण है-अन्य समवेत क्रिया के फल से प्रभावित होना [परसमवेत-क्रियाफलशालि कर्म भवति]। इसप्रकार उपपत्ति तथा लक्षण के द्वारा कारक का स्वरूप स्पष्ट होजाता है। केवल द्रव्य या क्रिया से कारक का स्वरूप उभरता नहीं। तात्पर्य है, 'द्रव्यत्वम्' अथवा 'क्रियात्वम्' यह कारक का लक्षण अथवा स्वरूप सम्भव नहीं। करण आदि कारकों के विषय में भी यह सब व्यवस्था समझलेनी चाहिए।

ठीक इसीप्रकार 'प्रमेय-प्रमाण' आदि भी कारक-पद हैं, अपने धर्म-अपनी विशेषता-को छोड़ नहीं सकते। कारक शब्द विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त से विविध-रूप में सामने आते हैं, यह निश्चित है। इसीकारण 'प्रत्यक्ष' आदि उस समय 'प्रमाण' कहेजाते हैं, जब वे उपलब्धि के साधन होते हैं। वे ही जब उपलब्धि के विषय बनते हैं, तब उनको 'प्रमेय' नाम देदियाजाता है। लोक आदि में ऐसा व्यवहार बराबर होतारहता है। 'प्रत्यक्षेण उपलभे' प्रत्यक्ष से उपलब्ध कररहा हूँ; यहाँ उपलब्धि का साधन होने से प्रत्यक्ष 'प्रमाण' है। तथा 'प्रत्यक्षं मे ज्ञानम्'-मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है, इस प्रतीति में स्वयं प्रत्यक्ष उसके विषयरूप से भासित होरहा है, अतः यहाँ प्रत्यक्ष 'प्रमेय' है। इसीप्रकार प्रत्येक प्रमाण के विषय में यह व्यवस्था लागू होती है। सामान्य 'प्रमाण'-पद से सभी प्रमाणों का ग्रहण होता है। प्रत्येक लक्षण के द्वारा उनका विशेष जानाजाता है। जैसे-इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षपूर्वक व्याप्तिज्ञानजनित अनुमान होता है, इत्यादि। फलतः प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापरसहभाव के आधार पर किया-गया प्रमाण का प्रत्याख्यान असंगत है॥ १६॥

प्रमाणज्ञान क्या प्रमाणान्तरापेक्षित है?—जिज्ञासा होती है, क्या यह प्रत्यक्षादि-विषयक ज्ञान किसी अन्य प्रमाण के द्वारा होता है, अथवा विना प्रमाण के होजाता है? सूत्रकार ने जिज्ञासा का परिणाम स्वयं प्रस्तुत किया—

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धि-प्रसङ्गः॥ १७॥ (७८)

[प्रमाणतः] प्रमाण से [सिद्धेः] सिद्धि मानने पर से [प्रमाणानाम्] प्रमाणों की, [प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः] अन्य प्रमाणों की सिद्धि होना प्राप्त होता है।

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान होना अन्य किन्हीं प्रमाणों के द्वारा मानाजाता है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त उन प्रमाणों को मानेजाने का प्रसंग प्राप्त होजाता है, जिनके द्वारा प्रत्यक्ष आदि को जानाजाता है। यदि उन्हें स्वीकार कियाजाता है, तो उनके जानने के लिए उनसे अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा होगी। ऐसे आगे-आगे प्रमाण मानने पर अनवस्था-दोष उपस्थित होगा। फिर सूत्रकार ने उद्देशग्रन्थ में चार प्रमाणों का उल्लेख किया है, उसमें न्यूनता-दोष आपन्न होगा। प्रमाणनिर्देश में ऐसे दोषों का होना अवाञ्छनीय है ॥ १७ ॥

यदि इससे बचने के लिए प्रमाणों की सिद्धि बिना अन्य प्रमाणों के मान-लीजाती है, तो प्रमेय की सिद्धि भी बिना प्रत्यक्षादि प्रमाण के मानलेनी चाहिए; प्रत्यक्षादि का उपपादन निरर्थक है। सूत्रकार ने बताया—

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ॥ १८ ॥ (७९)

[तद्विनिवृत्तेः] प्रमाणान्तर की निवृत्ति से [वा] अथवा [प्रमाणसिद्धिवत्] प्रमाणों (प्रत्यक्षादि) की सिद्धि के समान [प्रमेयसिद्धिः] प्रमेयों की सिद्धि हो-जायगी।

अथवा अनवस्था आदि दोष के भय से यह मानलियाजाय कि प्रमाणान्तरों की विनिवृत्ति–अनुपस्थिति–अस्वीकृति में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि–जानलियाजाना सम्भव है, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की अनुपस्थिति में सकल प्रमेयों का जानना भी सम्भव होगा। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का मानना व्यर्थ है। इसप्रकार सभी प्रमाणों का विलोप होजाता है। तब 'प्रमाण' पदार्थ का निरूपण असंगत है ॥ १८ ॥

प्रमाणज्ञान में प्रमाणान्तर अनपेक्षित—उक्त जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार करता है—

न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥ (८०)

[न] नहीं, [प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत्] प्रदीपप्रकाश की सिद्धि के समान [तत्सिद्धेः] प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि होने से।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सिद्धि के लिए न तो अन्य प्रमाणों की अपेक्षा है, और न प्रमाण के बिना सिद्ध होजाने से ये निःसाधन हैं। इसलिए प्रमाणों का निरूपण शास्त्र में असंगत नहीं है। प्रदीपप्रकाश का उदाहरण देकर सूत्रकार ने इसको स्पष्ट करदिया है। प्रदीपप्रकाश स्वतः प्रत्यक्षप्रमाण का अङ्ग होता है। किसी रूप या रूपी वस्तु के प्रत्यक्ष में 'प्रकाश' प्रमाण का अङ्ग होता है। इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष प्रकाश के अभाव में वस्तुप्रत्यक्ष के लिए अपूर्ण रहता है। तात्पर्य है, वस्तु के प्रत्यक्षज्ञान के लिए जैसे चक्षु प्रमाण है, वैसे

प्रकाश तथा सन्निकर्ष भी प्रमाण की सीमा में आते हैं। यहाँ प्रदीपप्रकाश दृश्य-वस्तु के दर्शन ज्ञान में प्रमाण है। पर जब वही प्रदीप चक्षुःसन्निकर्ष से स्वयं गृहीत होता है, तब वह प्रमेय की सीमा में आजाता है। एक प्रत्यक्ष-प्रमाण चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष-प्रमाण के अन्य अङ्ग 'प्रकाश' का ग्रहण होजाने से न तो प्रकाश की सिद्धि–उपलब्धि के लिए प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता रही; और न प्रदीपप्रकाश का ज्ञान विना प्रमाण के निःसाधन रहा। क्योंकि चक्षु–प्रत्यक्षप्रमाण से उसका ग्रहण होजाता है। वस्तु के ज्ञान में प्रदीपप्रकाश हेतु है, यह बात इस स्थिति से सिद्ध होजाती है कि प्रदीप के होने पर वस्तु का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता। अन्धकार रहने पर वस्तुओं को देखने के लिए प्रदीपप्रकाश का अथवा किसी भी प्रकाश का उपादान आवश्यक होता है। इसलिए जहाँ जैसा देखाजाय, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही होजाता है; उसके लिए अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रहती।

रूप तथा रूपी द्रव्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में चक्षु, प्रकाश एवं सन्निकर्ष को प्रमाण-कोटि में बतायागया। प्रकाश का प्रत्यक्षज्ञान चक्षु से होजाता है। चक्षु आदि सब इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, अतः इनका ज्ञान अनुमान से होता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करने के साधन हैं; विषयों का ग्रहण इन्द्रियों के अस्तित्व का अनुमापक है। विषय प्रत्यक्ष से गृहीत होजाते हैं। आवरणलिंग से इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का अनुमान होता है। यदि इन्द्रिय और अर्थ के अन्तराल में कोई आवरण आजायगा, तो सन्निकर्ष न होगा, और न विषय का ज्ञान होगा। यह ज्ञान आत्मा को होता है, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अतिरिक्त मन और आत्मा का संयोगविशेष अपेक्षित रहता है। आत्मा को वस्तु-विषयक ज्ञान का होना इतने साधनों के विना सम्भव नहीं। इसीप्रकार आत्मा को सुख-दुःख आदि का अनुभव मन और आत्मा के संयोगविशेष से होता है। जैसे प्रदीपप्रकाश एक अवसर पर स्वयं दृश्य (विषय–प्रमेय) होता हुआ अन्य अवसर पर विभिन्न दृश्यों की उपलब्धि का हेतु होने से दर्शन का विषय और दर्शन का हेतु–दोनों व्यवस्थाओं को प्राप्त करता है, ऐसे ही एक समय कोई पदार्थ प्रमेय होता हुआ, अन्य समय में उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण और प्रमेय दोनों स्थितियों का लाभ करता है। चक्षु रूपग्राहक होने से प्रमाण, और रूपग्रहण से चक्षु का अनुमान होने पर वह प्रमेय रहता है। फलतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का ज्ञान यथायथ प्रत्यक्ष आदि से होजाता है, इनके ज्ञान के लिए अन्य प्रमाणों के मानने की आवश्यकता नहीं रहती। कहीं एक प्रत्यक्ष का अन्य प्रत्यक्ष से, कहीं प्रत्यक्ष का अनुमान से, कहीं अनुमान का प्रत्यक्ष से ज्ञान होजाता है; इसमें कोई बाधा नहीं है। इसीलिए यह समझना ठीक नहीं कि प्रत्यक्ष आदि का ज्ञान विना साधन के होजाता है।

प्रत्यक्ष का ज्ञान प्रत्यक्ष से कैसे——यह आशंका कीजासकती है कि प्रत्यक्ष का ग्रहण प्रत्यक्ष से कैसे होजायगा ? एक पदार्थ एक काल में प्रमाण और प्रमेय दोनों हो, यह सम्भव नहीं। अत्यन्त निपुण भी नट स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। किसी विषय का ग्रहण किसी अन्य के द्वारा देखाजाता है। वस्तुतः ऐसी आशंका ठीक नहीं है; क्योंकि यह कहीं नहीं कहागया कि कोई प्रत्यक्ष प्रमाणरूप में प्रस्तुत पदार्थ उसीकाल में स्वयं अपना प्रत्यक्ष करता हो। जब एक पदार्थ अन्य पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है, तब वह केवल प्रमाण है। वह प्रमेय तभी होगा, जब किसी अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय हो। यह सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए कि उपलब्धि का हेतु और उपलब्धि का विषय एक काल में एक ही पदार्थ सम्भव नहीं।

प्रत्यक्ष-लक्षण में अनेक अर्थों का समावेश होता है। जैसा–प्रथम कहागया, इन्द्रिय, प्रकाश, सन्निकर्ष, ये सब प्रत्यक्ष-प्रमाण की कोटि में आते हैं। इनमें किसी एक से अन्य का प्रत्यक्ष होजाने में कोई बाधा नहीं है। इसीप्रकार अन्य अनुमान आदि प्रमाणों में समझना चाहिए। एक कुएँ से पानी निकालकर आपने चखा, वह मधुर था। उस समय वह पानी प्रमेय है। उसी पानी से आपने कूपस्थित शेष पानी के माधुर्य का अनुमान किया। इस समय वह चखा हुआ पानी प्रमाण-कोटि में आजाता है। चखा हुआ पानी, और कूपस्थित पानी भिन्न-भिन्न हैं; तथा चखे हुए पानी का-प्रमेय एवं प्रमाणस्थिति का–काल भी भिन्न है। अतः प्रमाण-प्रमेय-व्यवस्था में उक्त आशंका निराधार है।

'प्रमाता-प्रमेय' तथा 'प्रमाण-प्रमेय' का एक होना——प्रमाता और प्रमेय का कहीं एक होना सम्भव है। ज्ञाता अथवा प्रमाता आत्मा स्वयं अपने विषय में अनुभव करता है–'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदि। यहाँ प्रमाता अपना अनुभव करते समय उसी काल में प्रमेय भी है। इसीप्रकार एक ही वस्तु के एक काल में प्रमाण और प्रमेय होने का उदाहरण भी देखाजाता है। सूत्रकार ने मन को जानने का लिंग बताया है–'युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिः' [१ । १ । १६]–एक-साथ अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना। मन को समझने की इस प्रतीति के होने में जहाँ मन इस प्रतीति का विषय है, वहाँ इस प्रतीति का साधन भी है। प्रत्येक ज्ञान में मन साधन होता है; मन-विषयक उक्त ज्ञान में साधन होने से यहाँ मन प्रमाण और प्रमेय दोनों है। इसीप्रकार यदि किसी अन्य पदार्थ के भी प्रमाण और प्रमेय होने का सम्भव हो, तो वह ग्राह्य समझना चाहिए। उक्त प्रसंगों में ज्ञाता और ज्ञेय का, तथा प्रमाण और प्रमेय का अभेद स्पष्ट है।

यदि कहाजाय कि इन स्थलों में एक पदार्थ ज्ञाता और ज्ञेय तथा प्रमाण और प्रमेय निमित्तभेद के कारण हैं। पदार्थ यद्यपि एक है, पर वह ज्ञाता, ज्ञान का कर्त्ता होने से मानाजाता है, तथा ज्ञेय–ज्ञान का विषय होने से। इसीप्रकार

एक ही पदार्थ प्रमाण मानाजाता है प्रमा का हेतु होने से; और प्रमेय–प्रमा का विषय होने से। इसप्रकार एक पदार्थ प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से ज्ञाता-ज्ञेय, तथा प्रमाण-प्रमेय कहाजाता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में ऐसी सम्भावना नहीं है।

यह कथन भी बल नहीं रखता। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में निमित्तभेद क्यों सम्भव नहीं है ? उक्त उदाहरणों के समान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अभेद रहते भी प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से वही पदार्थ प्रमाण व प्रमेय मानाजासकता है। उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण और उपलब्धि का विषय होने से वही पदार्थ प्रमेय होजाता है। फलतः प्रमाण-प्रमेय की इस व्याख्यात व्यवस्था में कोई असांगत्य नहीं है, और न स्वीकृत प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा है। यदि कोई विषय–अतीत, वर्त्तमान, अनागत में–ऐसा सम्भावन कियाजासके, जिसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण न होसकता हो, तो अन्य प्रमाणों की कल्पना करने का अवसर सम्भव है; परन्तु सत्-असत् समस्त विषयों का ग्रहण इन्हीं प्रमाणों से होजाता है। कोई विषय शेष नहीं रहता; अतः प्रमाणान्तर की कल्पना व्यर्थ है।

'प्रदीपप्रकाश' दृष्टान्त का विवरण—सूत्र के 'प्रदीपप्रकाशवत्' पद का अर्थ किन्हीं व्याख्याकारों ने केवल उदाहरण के रूप में किया है, जो हेतु के सहयोग से हीन है। उनका कहना है, जैसे प्रदीपप्रकाश को देखने के लिए अन्य प्रदीपप्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, ऐसे ही प्रमाण अन्य प्रमाण के विना गृहीत होता है।

ऐसा अर्थ सूत्रकार की भावना के अनुकूल नहीं है। सूत्रकार प्रत्येक वस्तु की सिद्धि अथवा जानकारी प्रमाण के द्वारा होना मानता है। कोई पदार्थ ऐसा सम्भव नहीं, जो किसी-न-किसी प्रमाण का विषय न होता हो। यदि प्रमाण स्वयं विना किसी प्रमाण के सिद्ध है, अथवा जानाजासकता है, तो प्रमेय भी विना किसी प्रमाण के सहयोग के क्यों नहीं जानाजासकता ? यदि प्रमाण वस्तु-सिद्धि के प्रसंग में किसी एक जगह से हटेगा, तो सब जगह से हटने की आपत्ति प्रस्तुत होजायगी। इसप्रकार प्रमाण का विलोप होजायगा। ऐसा कोई हेतु नहीं है, जिसके आधार पर यह कहाजासके कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है, परन्तु प्रमाण की सिद्धि विना प्रमाण के होजाती है। साथ ही इस बात में भी कोई विशेष हेतु नहीं है कि प्रमाण की सिद्धि विना प्रमाण के होजाती है, और प्रमेय की सिद्धि विना प्रमाण के नहीं होसकती। इसप्रकार विशेष हेतु के विना 'प्रदीपप्रकाशवत्' सूत्रपद का दृष्टान्त के रूप में अर्थ करना केवल एक पक्ष में उपादेय होने से अनेकान्त है, इष्ट का साधक नहीं मानाजासकता। कोई दृष्टान्त उसी अवस्था में अभीप्सित अर्थ का साधक होता है, जब विशेष हेतु से परि-गृहीत हो। ऐसे दृष्टान्त को अस्वीकार नहीं कियाजासकता। वह अवस्था

दृष्टान्त को अनेकान्तता से दूर रखती है। इससे यह सुपुष्ट होजाता है कि जैसे घट-पट आदि पदार्थ प्रमाणों से जानेजाते हैं, ऐसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाण यथायथ उन्हीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानलियेजाते हैं। सूत्र के 'प्रदीपप्रकाशवत्' पद का यही भाव अभिव्यक्त करने में तात्पर्य है; जैसा प्रथम सूत्रार्थ के अवसर पर करदियागया है।

इस अवस्था में यह कहना संगत न होगा कि प्रत्यक्ष आदि की उपलब्धि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा मानने पर अनवस्था-दोष होगा। यह दोष उसी दशा में सम्भव है, जब प्रत्यक्षादि की जानकारी के लिए अन्य अतिरिक्त प्रमाणों की कल्पना कीजाय। यहाँ केवल इतना समझना है कि ये प्रत्यक्षादि प्रमाण परस्पर यथाप्रसंग एक-दूसरे की जानकारी कराते हुए समस्त व्यवहार को पूर्णरूप से सम्पन्न करते हैं। जो पदार्थ एक समय उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण होता है, वही जब अन्य 'प्रमाण' पदार्थ का ग्राह्य विषय होता है, तब वह 'प्रमेय' नाम पाजाता है। ऐसा अन्य कोई व्यवहार शेष नहीं रहजाता, जिसके लिए अनवस्था के प्रयोजक अन्य प्रमाणों की कल्पना का अवसर आये। इन्हीं स्वीकृत प्रमाणों के द्वारा समस्त प्रमाण-प्रमेय की जानकारी का व्यवहार सम्पन्न हो-जाता है ॥ १९ ॥

प्रत्यक्षलक्षण-परीक्षा—सामान्य प्रमाणों की परीक्षा पूरी करके सूत्रकार ने विशेष प्रमाण प्रत्यक्ष की परीक्षा प्रस्तुत करने की भावना से कहा—

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २० ॥ (८१)

[प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिः] प्रत्यक्ष का लक्षण अनुपपन्न–असिद्ध है [असमग्रवचनात्] अधूरे कथन से।

प्रत्यक्ष के लक्षणसूत्र [१।१।४] में प्रत्यक्षज्ञान के जो कारण बताये गये हैं, उनमें कुछ कारणों का उल्लेख होना रहगया है। प्रत्येक ज्ञान के होने में आत्मा और मन का सन्निकर्ष आवश्यक होता है; उसका उल्लेख सूत्र में नहीं कियागया; केवल इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख किया है, अतः लक्षण अधूरा है। जो गुण किसी द्रव्य में संयोग से उत्पन्न होनेवाला हो, वह द्रव्य के असंयुक्त रहने पर उत्पन्न नहीं होसकता। ज्ञान-गुण आत्म-द्रव्य में समवाय से उभरता है; पर वह तभी, जब अर्थ-संयुक्त इन्द्रिय मन से तथा मन आत्मा से संयुक्त हो। हम जानते हैं कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अनन्तर आत्मा में वस्तुविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है–आत्ममनःसन्निकर्ष ज्ञान के होने में कारण है। सूत्र में उसका उल्लेख नहीं हुआ। इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष भी ज्ञान के होने में कारण है। यदि ऐसा न मानाजाय, तो अनेक इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर सभी विषयों का एकसाथ

ज्ञान होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। इसका यही कारण है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान हुआ करता है। इससे सिद्ध है–प्रत्यक्षज्ञान के होने में इन्द्रिय-मन का संयोग कारण है। उसका उल्लेख भी सूत्र में नहीं हुआ। यह सब लक्षण में न्यूनता है। फलतः प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक नहीं है ॥ २० ॥

प्रत्यक्षलक्षण अपूर्ण—प्रत्यक्षलक्षण की असमग्रता को सूत्रकार स्वतः स्पष्ट करता है—

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥ (८२)

[न] नहीं [आत्ममनसोः] आत्मा और मन के [सन्निकर्षाभावे] सन्निकर्ष के अभाव में [प्रत्यक्षोत्पत्तिः] प्रत्यक्ष की उत्पत्ति।

आत्मा और मन का सन्निकर्ष न होने पर प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष न होने पर नहीं होती। तात्पर्य है, जैसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान के लिए आवश्यक है, वैसे आत्म-मनःसन्निकर्ष भी। लक्षणसूत्र में उसका उल्लेख न होने से प्रत्यक्ष का लक्षण अपूर्ण है। सूत्र की अधिक व्याख्या प्रथम करदीगई है ॥ २१ ॥

यदि यह कहाजाता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर ही प्रत्यक्षज्ञान होने से वे प्रत्यक्षज्ञान के कारण हैं, तो यह स्थिति दिग्, देश, काल, आकाश में भी प्राप्त होती है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा—

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः[1] ॥ २२ ॥ (८३)

[दिग्देशकालाकाशेषु] दिशा, देश, काल, आकाश के विषय में [अपि] भी [एवम्] इसप्रकार [प्रसङ्गः] असमग्रकथन प्राप्त होता है।

कोई भी ज्ञान होने की दशा में दिशा, देश, काल, आकाश की स्थिति आवश्यक रहती है; तब इनको भी प्रत्यक्षज्ञान का कारण मानना चाहिये। प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में इनका उल्लेख न होना लक्षण की असमग्रता का प्रयोजक है।

वस्तुतः प्रत्यक्षलक्षण में यह आपत्ति निराधार है। ज्ञान की उत्पत्ति में दिशा आदि के कारण न होने पर भी उनके सान्निध्य को हटाया नहीं जासकता। इसलिए इनको कारण मानेजाने में कोई विशेष हेतु होना चाहिए, जिससे ज्ञानोत्पत्ति के प्रति इनकी कारणता स्पष्ट होसके। इसके विपरीत दिशा

---

१. हमारे विचार से यह सूत्र न होकर भाष्यवार्त्तिक है, यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने इसको 'न्यायसूचीनिबन्ध' में सूत्र माना है। मिश्र ने अन्यत्र भी भाष्यवार्त्तिक का सूत्ररूप में उल्लेख किया है। सूत्रकार ने इस आपत्ति का सूत्रद्वारा निराकरण नहीं किया; यह इसके सूत्र न होने में प्रमाण है।

आदि के रहते यदि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न हो तो ज्ञान का न होना, यदि हो तो होना, यह सिद्ध करता है कि दिशा आदि की उपस्थिति–वे कारण हों या न हों–अनिवार्य है। अतः वे ज्ञानोत्पत्ति के प्रति अन्यथासिद्धमात्र हैं, कारण नहीं ॥ २२ ॥

प्रत्यक्षलक्षण संगत—यदि ऐसा है, तो प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में आत्म-मनः-सन्निकर्ष का उल्लेख होना चाहिए था। इस विषय में सूत्रकार कहता है—

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नाऽनवरोधः ॥ २३ ॥ (८४)

[ज्ञानलिङ्गत्वात्] ज्ञान के लिङ्ग होने से [आत्मनः] आत्मा का [न] नहीं [अनवरोधः] असंग्रह (प्रत्यक्षलक्षण में आत्ममनःसन्निकर्ष का)।

आत्मा का विशेषगुण होने से ज्ञान आत्मा का लिंग है। आत्मा ज्ञान से ज्ञाप्य–बोध्य होता है आत्मा के अस्तित्व का यह बोधक है। ज्ञान का उत्पन्न होना यह स्पष्ट करता है कि ज्ञान का समवायिकारण आत्मा यहाँ विद्यमान है। आत्मा के ऐसे गुण की उत्पत्ति बिना असमवायिकारण के हो नहीं सकती। उसका असमवायिकारण आत्ममनःसंयोग है। इसलिए आत्मा एवं आत्ममनः-संयोग के–प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में अपठित होने पर भी उनका संग्रह होजाता है। फलतः सूत्र में न पढ़ेजाने पर भी प्रत्यक्षज्ञान के प्रति इनकी कारणता निश्चित है ॥ २३ ॥

यदि ऐसा है, तो इन्द्रिय-मनःसंयोग का उल्लेख तो लक्षणसूत्र में होना चाहिये था। इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

तदयौगपद्यलिंगत्वाच्च न मनसः ॥ २४ ॥ (८५)

[तदयौगपद्यलिगत्वात्] उसका अयौगपद्य एकसाथ ज्ञान का न होना लिग होने से [च] तथा अथवा भी [न] नहीं [मनसः] मन का (असंग्रह)।

गत सूत्र से यहाँ 'अनवरोधः' पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। एकसाथ ज्ञानों का न होना मन का लिग है। यह इसीकारण होपाता है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है, उसी इन्द्रिय से ग्राह्य विषय का ज्ञान होता है, अन्य का नहीं। एक विषय का प्रत्यक्षज्ञान होने की दशा में यह स्पष्ट है कि उस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होरहा है। इसप्रकार प्रत्यक्षज्ञान के प्रति मन-इन्द्रियसन्निकर्ष की कारणता अनायास प्राप्त होजाती है। यदि प्रत्यक्षलक्षण में उसका उल्लेख नहीं कियागया, तो यह कोई दोषावह नहीं है; क्योंकि उक्त प्रकार से प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियमनः सन्निकर्ष का संग्रह होजाता है ॥ २४ ॥

प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उल्लेख क्यों?—आत्ममनःसन्निकर्ष और मनइन्द्रियसन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान में कारण हैं, यह स्वीकृत है। निमित्तान्तर

से उनका संग्रह भी लक्षण में स्वीकार किया। फिर सूत्र में उनका उल्लेख क्यों नहीं कियागया ? तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का केवल क्यों कियागया ? सूत्रकार ने बताया—

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥ २५ ॥ (८६)

[प्रत्यक्षनिमित्तत्वात्] प्रत्यक्ष का निमित्त होने से [च] केवल [इन्द्रियार्थयोः] इन्द्रिय और अर्थ के [सन्निकर्षस्य] सन्निकर्ष का [स्वशब्देन] स्व शब्द से ('इन्द्रिय' और 'अर्थ' इन अपने साक्षात् पदों से) [वचनम्] कथन है (लक्षण सूत्र में)।

प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का साक्षात् अपने वाचक पदों से कथन इसी कारण है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष केवल प्रत्यक्षज्ञान का निमित्त होता है, अन्य अनुमिति आदि ज्ञान का नहीं। आत्ममनःसन्निकर्ष आदि–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द आदि–सभी ज्ञानों में कारण होते हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष केवल प्रत्यक्षज्ञान में कारण हैं। जो ज्ञानसामान्य में कारण हैं, उनका उल्लेख प्रत्यक्ष-ज्ञानविशेष के लक्षण में करना अनुपयुक्त था। उल्लेख न करने पर भी प्रत्यक्षज्ञान के प्रति उनकी कारणता में कोई बाधा नहीं आती। वे तो सभी ज्ञानों में बराबर कारण हैं। जो केवल प्रत्यक्षज्ञान में कारण हैं, अन्यत्र कारण नहीं; उनका निर्देश लक्षणसूत्र में कियागया है। यही उपयुक्त था; क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान का विशेष कारण यही है। फलतः प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में कोई न्यूनता नहीं ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की प्रधानता—प्रत्यक्षलक्षण में केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के ग्रहण के लिए सूत्रकार अन्य उपपत्ति प्रस्तुत करता है। अथवा प्रत्यक्षज्ञान के प्रति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की कारणता के प्राधान्य को सूत्रकार ने प्रकारान्तर से बताया—

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ॥ २६ ॥ (८७)

[सुप्तव्यासक्तमनसाम्] सोये हुए तथा व्यासक्त मनवाले व्यक्तियों के [च] और [इन्द्रियार्थयोः] इन्द्रिय और अर्थ के [सन्निकर्षनिमित्तत्वात्] सन्निकर्ष-निमित्त होने से (प्रबोध तथा विषयान्तर प्रवृत्ति में)।

प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ग्रहण कियागया है, आत्ममनः-सन्निकर्ष का नहीं। इसका कारण यही है कि प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रधान कारण होता है, आत्ममनःसन्निकर्ष गौण कारण हैं। इस वास्तविकता को इस प्रकार समझना चाहिये।

जब व्यक्ति यह संकल्प करके सोता है कि मुझे ठीक अमुक समय अवश्य उठजाना है, ऐसा अनुभव में बराबर देखागया है कि वह व्यक्ति ठीक समय उठजाता है। ऐसे अवसर पर दृढ़ संकल्पवाले आत्मा में ठीक समय पर वह भावना उभर आती है; आत्मा मन को प्रेरित करता है, मन इन्द्रिय से संयुक्त होकर उन्हें सचेत करता है, और व्यक्ति ठीक संकल्पित समय पर उठबैठता है। ऐसे प्रसंग में आत्मा की प्रेरणा से प्रबोध होता है। यहाँ आत्ममनःसन्निकर्ष को प्रबोध में प्रेरक कारण कहाजासकता है।

परन्तु जब व्यक्ति किसी ऐसे संकल्प से नहीं सोता गहरी नींद में सोया हुआ है—बाहर तीव्र ध्वनि होती है, घण्टा बजता है, गोला छूटजाता है, अथवा आवश्यकता होने पर अन्य व्यक्ति सोये पुरुष को वेगपूर्वक झंझोड़कर उठाता है,—ऐसे अवसर पर सर्वप्रथम बाह्यध्वनि और श्रोत्र-इन्द्रिय अथवा तीव्र स्पर्श और त्वक्-इन्द्रिय का सन्निकर्ष सर्वप्रथम होता है। प्रबोधज्ञान की उत्पत्ति का वहाँ यही मुख्य कारण रहता है। ऐसे अवसरों पर आत्मा और मन के सन्निकर्ष का प्राधान्य नहीं होता। क्योंकि वहाँ आत्मा जिज्ञासा रखता हुआ प्रयत्नपूर्वक मन को प्रेरित नहीं करता। प्रत्युत ज्ञान होने की प्रवृत्ति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की ओर से प्रारम्भ होती है।

ऐसे ही जब व्यक्ति किसी एकमात्र विषय में दत्तचित्त होकर लगा नहीं रहता, तब अपने संकल्प के अनुसार अन्य विषय को जानने की इच्छा रखता हुआ प्रयत्नप्रेरित मन से इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष कर अभिलषित विषय को जानलेता है। परन्तु इसके विपरीत जब संकल्प एवं विषयान्तर की जिज्ञासा से रहित होकर एकमात्र विषय में दत्तचित्त हुआ रहता है, उस समय सामने होनेवाली घटनाओं का भी उसे पता नहीं लगता। उसका ध्यान उधर से हटाकर दूसरी ओर खींचने के लिए किसी बाह्य आपात की अपेक्षा होती है। बाहर की ओर से तीव्र ध्वनि या स्पर्श आदि होने पर वह अन्य विषय का ग्रहण करपाता है। यहाँ भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का प्राधान्य रहता है। क्योंकि ऐसे अवसर पर आत्मा प्रथम जिज्ञासा रखता हुआ प्रयत्नपूर्वक मन को प्रेरित नहीं करता। प्रत्युत प्रथम इन्द्रिय–अर्थ का सन्निकर्ष होकर विषयज्ञान की प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है। फलतः ऐसे प्रसंगों के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का प्राधान्य होनेसे प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में उसका निर्देश कियागया है; गौण होनेसे आत्ममनःसन्निकर्ष का नहीं।

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्राधान्य में स्वारस्य इतना है कि वह केवल प्रत्यक्षज्ञान में उपयोगी व सावकाश है। आत्ममनःसंयोग अनुमिति आदि अन्य सभी ज्ञानों में समानरूप से कारण रहता है, इसलिए केवल प्रत्यक्षज्ञान में उसका प्राधान्य नहीं है। उसकी कारणता ज्ञानमात्र में समान है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

केवल प्रत्यक्षज्ञान में कारण रहता है, इसलिए यहाँ उसका प्राधान्य है ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षज्ञान का निर्देश इन्द्रियाधीन—प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्राधान्य को पुष्ट करने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २७ ॥ (८८)

[तैः] उनके द्वारा [च] तथा [अपदेशः] कथन होता है [ज्ञान-विशेषाणाम्] ज्ञानविशेषों का ।

उन इन्द्रिय और अर्थों के द्वारा प्रत्यक्षीभूत विभिन्न ज्ञानों का कथन-निर्देश होता है । जैसे—'घ्राणेन जिघ्रति' घ्राण से सूंघता है । यहाँ गन्धग्रहण—गन्धज्ञान का निर्देश घ्राण-इन्द्रिय से है । ऐसे ही अन्य इन्द्रियों के विषय में समझना चाहिये । जैसे—'चक्षुषा पश्यति, रसनया रसयति, त्वचा स्पृशति, श्रोत्रेण शृणोति' आदि—चक्षु से देखता है, रसना से चखता है, त्वक् से छूता है, श्रोत्र से सुनता है, इत्यादि । यहाँ देखना, चखना, छूना, सुनना आदि ज्ञान का निर्देश चक्षु आदि इन्द्रियों से होता है । इसीप्रकार का—'घ्राणविज्ञानम्, चक्षुर्विज्ञानम्, रसनविज्ञानम्' इत्यादि व्यवहार है । यहाँ भी—'घ्राण से जाना हुआ, चक्षु से जाना हुआ, रसन से जाना हुआ' इत्यादि निर्देश घ्राण आदि इन्द्रियमूलक है । इसीप्रकार—'गन्धविज्ञानम्, रूपविज्ञानम्, रसविज्ञानम्, स्पर्शविज्ञानम्, शब्दविज्ञानम्' इत्यादि निर्देश है । यहाँ 'गन्धविषयक ज्ञान, रूपविषयकज्ञान, रसविषयकज्ञान, स्पर्श-विषयकज्ञान, शब्दविषयक ज्ञान' इत्यादि रूप में ज्ञान का निर्देश गन्धादि अर्थमूलक है । इन्द्रियों के अर्थ-विषय विभिन्न होने से वह ज्ञान उक्त पाँच प्रकार से कहाजाता है । इस सर्वमान्य शास्त्रीय व लोक-व्यवहार के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रिय एवं अर्थ का प्राधान्य स्पष्ट होता है । इसी आधार पर प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' का निर्देश है, अन्य कारणों का नहीं ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षलक्षण में मनइन्द्रियसन्निकर्ष का निर्देश आवश्यक—शिष्य आशंका करता है, प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उल्लेख किया; आत्ममनः-सन्निकर्ष का नहीं किया; क्योंकि सुप्त और व्यासक्तचित्त व्यक्तियों को ज्ञान होने का निमित्त इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रहता है । यह कथन अन्य शास्त्रीय कथन का विरोधी होने से ठीक नहीं है । सूत्रकार ने इसी आशंका को सूत्रद्वारा प्रस्तुत किया—

व्याहतत्त्वादहेतुः ॥ २८ ॥ (८९)

[व्याहतत्वात्] विरोधी होने से ('सुप्तव्यासक्त०' आदि सूत्र द्वारा कहागया) [अहेतुः] हेतु ठीक नहीं है ।

गत २६वें सूत्र में प्रत्यक्षज्ञान के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का प्राधान्य बताया है; आत्ममनःसन्निकर्ष की कारणता का निषेध नहीं किया। परन्तु आशंकावादी शिष्य उस कथन की यथार्थ पूर्णता को न समझ विरोध की उद्‌भावना करता है। यदि आत्मा और मन का सन्निकर्ष ज्ञान के प्रति कारण होना अभीष्ट नहीं है, तो मन का जो लिङ्ग बतायागया है–युगपत् अनेक ज्ञानों का न होना, उसके साथ उक्त कथन का विरोध होगा। ज्ञान की उत्पत्ति में मनःसन्निकर्ष को कारण मानने पर–युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति मन का लिङ्ग कहाजासकता है। यदि प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न हो, तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर युगपत् अनेक ज्ञान होजाया करें, परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है, प्रत्यक्षज्ञान में मनःसन्निकर्ष कारण है। २६वें सूत्र से मनःसन्निकर्ष की कारणता को हटाना, इसके विरुद्ध जाता है। यह विरोध न रहे, इस भावना से सब ज्ञानों में मन-इन्द्रियसन्निकर्ष तथा आत्ममनः सन्निकर्ष को कारण अवश्य स्वीकार करना चाहिये। फलतः ज्ञान का कारण होने से इनके सन्निकर्ष का प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में उल्लेख होना आवश्यक है ॥ २८ ॥

इन्द्रियमनःसन्निकर्षनिर्देश प्रत्यक्षलक्षण में अनपेक्षित—सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया––

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २९ ॥ (९०)

[न] नहीं (विरोध), [अर्थविशेषप्राबल्यात्] अर्थ-विशेष की प्रबलता से (कभी सुप्त तथा व्यासक्तचित्त व्यक्ति को ज्ञानोत्पत्ति होने के कारण)।

ज्ञान की उत्पत्ति में आत्ममनःसन्निकर्ष कारण है, इसका किसी ने प्रतिषेध नहीं किया। ज्ञानोत्पत्ति में केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की कारणता का प्राधान्य बतायागया है। एक समय पर सुप्त और व्यासक्तमन व्यक्ति को ज्ञानोत्पत्ति बाह्य अर्थविशेष की प्रबलता के कारण होती है। बाहर की तीव्र ध्वनि अथवा पटु-स्पर्श आदि को अर्थविशेष की प्रबलता समझनी चाहिये। बाह्य तीव्र ध्वनि अथवा पटु-स्पर्श का सम्बन्ध उस अवसर पर इन्द्रिय के साथ प्रथम होता है, आत्मा और मन का सन्निकर्ष उसके अनन्तर होपाता है। यद्यपि ज्ञान की उत्पत्ति तभी होगी, जब आत्ममनःसन्निकर्ष होचुका होगा; परन्तु इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष प्रथम होने से प्रधानकारण कहागया है। वैसे भी सर्वत्र प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कारण की प्रधानता रहती है, और आत्ममनः-सन्निकर्ष की गौणता; अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमानादिजन्य ज्ञान में कोई अन्तर न रहेगा। प्रधान होने के कारण प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का निर्देश है; अन्य कारणों का नहीं।

मनःप्रेरक अदृष्ट—सुप्त और व्यासक्तमन व्यक्तियों के–इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले–ज्ञान के विषय में एक जिज्ञासा रहजाती है। संकल्प और प्रणिधान आदि के अभाव में जब सुप्त अथवा व्यासक्तमन व्यक्ति के श्रोत्र अथवा त्वक्-इन्द्रिय के साथ बाह्य तीव्र ध्वनि एवं पटु-स्पर्श का सन्निकर्ष होता है, उस अवसर पर आत्मा के प्रयत्न से इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने के लिए मन प्रेरित नहीं होता, क्योंकि आत्मा में उस समय ज्ञानोत्पत्ति के लिए कोई संकल्प या प्रणिधान आदि नहीं रहता। तब इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होने के लिए क्या कारण रहता है? इन्द्रिय के साथ मन का संयोग उस ज्ञान में कारण है, अतः मनःसंयोग की उपेक्षा नहीं कीजासकती। इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष के लिए मन में क्रिया होने का क्या कारण है? यह जानना चाहिये।

संकल्प या प्रणिधान की स्थिति में जब ज्ञाता आत्मा किसी विषय का ज्ञान करना चाहता है, तब आत्मा की इच्छा से जैसे आत्मगुण प्रयत्न उभरकर मन को क्रिया के लिए प्रेरित करता है, ऐसे ही संकल्प आदि के अभाव में आत्मा का एक और विशेषगुण 'अदृष्ट' है, जो ऐसे अवसरों पर मन को उपयुक्त क्रिया के लिए प्रेरित कियाकरता है। वह 'अदृष्ट' नामक आत्मा का गुण पुण्य-अपुण्यरूप प्रवृत्ति एवं दोषों से उत्पन्न होकर आत्मा में समवेत रहता है, और सभी कार्यों में यह प्रयोजक रहता है। इसीका अन्य नाम 'धर्म-अधर्म' है। सुप्त आदि पूर्वोक्त दशा में इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष के लिए मन इसीसे प्रेरित होकर क्रियाशील होता है। यदि मन को यह प्रेरित न करे, तो इन्द्रिय के साथ मन का संयोग न होने पर ज्ञान की उत्पत्ति न होगी। इससे–आत्मा को जो भोग होनेवाला था–वहभी न होगा। तथा सब कार्यों में अदृष्ट को जो प्रयोजक मानाजाता है, वह मान्यता भी ध्वस्त होजायगी।

द्रव्य, गुण, कर्म आदि समस्त कार्यों की उत्पत्ति में अदृष्ट का कारण होना अत्यन्त अपेक्षित है। आत्माओं के पुण्यापुण्य कर्मों से धर्माधर्मरूप अदृष्ट बनता है। समस्त संसार की रचना आत्माओं के भोग को सम्पन्न करने के लिए होती है। इसलिए आवश्यक है, भोग की अनुकूलता के लिए जगद्रचना में अदृष्ट को प्रयोजक मानाजाय। जब परमात्मा सर्ग के लिए जगत् के परम सूक्ष्म उपादान तत्त्वों को प्रेरित करता है; तब विविध जगत् की रचना में आत्माओं के धर्म-अधर्म [अदृष्ट] प्रयोजक कारण रहते हैं, जिससे द्रव्यादि कार्यों की उस प्रकार की रचना कीजासके, जिससे आत्माओं के कर्मानुरूप भोगों में आनुकूल्य रहे। यदि ऐसा न मानाजाय, तो मूल उपादान-तत्त्वों में क्रिया का कोई अन्य प्रयोजक निमित्त न होने से शरीर, इन्द्रिय और दूसरे विविध भोग्य विषयों की उत्पत्ति का होना असम्भव होजायगा। इसप्रकार कार्यमात्र में अदृष्ट को कारण

मानाजाता है। अतः सुप्त आदि दशाओं में मन की अपेक्षित क्रिया का हेतु अदृष्ट को मानने में कोई बाधा नहीं है ॥ २९ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान से अतिरिक्त नहीं— शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रत्यक्ष को अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानाजाना चाहिये। क्योंकि घट, पट, पेड़, मकान आदि जिस पदार्थ को हम चक्षु आदि के द्वारा देखते हैं, वह हमें पूरा कभी दिखाई नहीं देता, उसका कुछ भाग दीखता है, शेष का अनुमान करते हैं, तब प्रत्यक्ष को अनुमान मानलेना ठीक होगा। सूत्रकार ने जिज्ञासा को सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया—

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ ३० ॥ (९१)

[प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्षप्रमाण [अनुमानम्] अनुमान है, [एकदेशग्रहणात्] एकदेश के ग्रहण से, (शेष की) [उपलब्धेः] उपलब्धि से।

पुरोवर्त्ती पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है-यह वृक्ष है, घट है, पट है, मकान है,इत्यादि; उसको प्रत्यक्ष कहाजाता है। पर वस्तुतः उस समस्त पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता नहीं। मान लीजिये, सामने पेड़ खड़ा है। उसका केवल वह भाग दिखाई देता है, जो देखनेवाले की ओर है। दूसरी ओर का भाग दिखाई नहीं देता। पर एक ओर के भाग को देखकर देखनेवाला कहता है कि मैं पेड़ को देखरहा हूँ। वस्तुतः जितना भाग दीखरहा है, केवल उतनामात्र पेड़ नहीं है, उसमें और भाग हैं, जो दिखाई नहीं देरहे। जो नहीं दिखाई देरहा, उसका अनुमान द्वारा ज्ञान होना मानना होगा। तब 'यह पेड़ है' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर अनुमान मानना चाहिये। यह ऐसा है, जैसे प्रथम धूम का ग्रहण करके उससे अग्नि का अनुमान होता है। यहाँ भी एकदेश के ग्रहण से उस वस्तु या पदार्थ,वृक्षादि का अनुमान होता है। अतः प्रत्यक्ष को अलग प्रमाण न मानकर उसे अनुमान समझना उपयुक्त होगा ॥ ३० ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान नहीं—सूत्रकार आचार्य उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

न, प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ ३१ ॥ (९२)

[न] नहीं, [प्रत्यक्षेण] प्रत्यक्ष से [यावत्] जितना (उपलब्ध होता है) [तावत्] उतना [अपि] भी [उपलम्भात्] उपलब्ध होने से।

प्रत्यक्ष को अनुमान बताना ठीक नहीं है। पुरोवर्त्ती एकदेश का ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होने के कारण आशंकावादी ने भी उसे प्रत्यक्ष स्वीकार किया। तब जितना प्रत्यक्ष से जाना, उतने से प्रत्यक्ष प्रमाण का अस्तित्व तो सिद्ध होजाता है। प्रत्यक्ष से देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान बिना विषय के नहीं

होसकता, कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता। जितना अर्थसमूह उस ज्ञान का विषय है, उतना प्रत्यक्ष की स्थापना को निश्चित करदेता है। अब यह विचार करना आवश्यक है कि जो प्रत्यक्ष होरहा है, उससे अतिरिक्त और क्या है ? अथवा उतना ही प्रत्यक्षीभूत पदार्थ है ? क्योंकि उस एकदेश के ग्रहण [प्रत्यक्षज्ञान] को अनुमानजन्य ज्ञान सिद्ध करनेवाला कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं है।

विचारना चाहिए, प्रत्यक्षगृहीत उस एकदेश से अन्य अनुमेय क्या है ? इस विषय में दो विचार हैं। एक है–पुरोवर्त्ती वृक्ष आदि पदार्थ–गृहीत और अगृहीत विविध अवयवों के समूह से अतिरिक्त–अन्य कुछ नहीं। दूसरा विचार है–गृहीत और अगृहीत अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से एक द्रव्य उत्पन्न होजाता है, जिसको 'अवयवी' कहाजाता है। वही 'एक वृक्ष' के रूप में गृहीत होता है। इन दोनों विचारों के अनुसार यह समझने की आवश्यकता है कि प्रत्यक्ष किसका होता है ? और क्या उस प्रत्यक्ष को अनुमान मानाजाना चाहिए ?

पहले विचार के अनुसार 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान होना सम्भव नहीं। क्योंकि न तो केवल गृहीत भाग वृक्ष है, और न केवल अगृहीत भाग। इनमें गृहीत भाग का प्रत्यक्ष ज्ञान है, तथा दूसरे भाग के ज्ञान को अनुमिति कहाजासकता है। ऐसी स्थिति में 'यह वृक्ष है' इस ज्ञान को न प्रत्यक्ष कहाजासकेगा, न अनुमिति। क्योंकि पूरा समूह न प्रत्यक्ष से जानागया, न अनुमान से। कुछ भाग प्रत्यक्ष से जानागया, कुछ अनुमान से। इसलिए उस ज्ञान को प्रत्यक्ष या अनुमान किसी एक प्रमाण से हुआ मानाजाना सम्भव नहीं है।

यदि कहाजाय कि प्रत्यक्षगृहीत भाग से अन्य अगृहीत भाग का अनुमान से ज्ञान होजायगा; और इन दोनों ज्ञानों से समुदाय का प्रतिसन्धान होने पर 'यह वृक्ष है' इस ज्ञान का होना सम्भव होगा। ऐसी स्थिति में 'यह वृक्ष है' इस ज्ञान को केवल अनुमान-प्रमाण से हुआ नहीं कहाजासकता। क्योंकि इस प्रतिसन्धिज्ञान में एक अंश प्रत्यक्ष है। तब भी प्रत्यक्ष का अस्तित्व अबाध बना रहता है।

यदि दूसरा विचार स्वीकार कियाजाता है, जहाँ अवयवी नामक द्रव्यान्तर की उत्पत्ति को उन समस्त अवयवों में मानागया है, तो 'यह वृक्ष है' इस अवयवी-विषयक ज्ञान को अनुमान-प्रमाण से हुआ नहीं मानाजासकता। कारण यह है कि एकदेश के ग्रहण के साथ उससे सम्बद्ध एकमात्र पूर्ण अवयवी का प्रत्यक्ष से ग्रहण होजाता है; उसे अनुमेय कहना सर्वथा असंगत है। फलतः 'वृक्षज्ञान' अनुमानप्रमाणजन्य नहीं है; वह केवल प्रत्यक्षज्ञान है।

एक अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं मानाजासकता। अनुमान के लक्षणसूत्र [१।१।५] में बतायागया है–अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है।

अनुमान के प्रयोग में प्रत्यक्ष की अपेक्षा रहती है । यदि प्रत्यक्ष को अस्वीकार कियाजाता है, तो अनुमान की प्रवृत्ति ही न होगी । अनुमान को स्वीकार करने का तात्पर्य है कि पहले प्रत्यक्ष को स्वीकार करना चाहिए । धूम-अग्नि का परस्पर सम्बन्ध है, यह पहले प्रत्यक्ष से गृहीत होता है । कालान्तर में धूम-हेतु का प्रत्यक्ष से ज्ञान होनेपर अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है । धूम-हेतु का प्रत्यक्षज्ञान हुए विना अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होसकती । प्रत्यक्ष धूमज्ञान को अनुमेयज्ञान नहीं कहाजासकता; क्योंकि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है । अनुमेय पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने से अनुमिति-ज्ञान कभी नहीं होता । प्रत्यक्ष और अनुमान के स्वरूप का यह परस्पर महान् भेद सदा ध्यान में रखना चाहिए ॥ ३१ ॥

अर्थ या वस्तु 'अवयवी' इकाई है—यह जो प्रथम कहागया–पुरोवर्त्ती वृक्ष आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष से केवल एक भाग गृहीत होता है, अतः वृक्षज्ञान को अनुमानजन्य मानना चाहिए । सूत्रकार उस विषय में अपना निर्णय देता है—

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३२ ॥ (६३)

[न] नहीं [च] तथा, केवल [एकदेशोपलब्धिः] एक देश की उपलब्धि [अवयविसद्भावात्] अवयवी के विद्यमान होने से ।

पुरोवर्त्ती वृक्ष आदि पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञान में पदार्थ के केवल एक भाग का ग्रहण होता हो, ऐसा नहीं है । क्योंकि उन अवयवों में एक द्रव्यरूप से 'अवयवी' विद्यमान रहता है । इसलिए उस भाग की उपलब्धि के साथ उन अवयवों में समवेत अवयवी का ग्रहण होजाता है । क्योंकि अवयवी उस एकदेश से अतिरिक्त है, और वहीं समवेत है । जब पुरोवर्त्ती पदार्थ के एकदेश के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, तब वहीं समवेत अवयवी के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होजाता है; तब जैसे इन्द्रियसन्निकर्ष से उस एकदेश की उपलब्धि होती है, वैसे इन्द्रियसन्निकर्ष से अवयवी का प्रत्यक्ष होता है । ऐसा नहीं हो-सकता कि पुरोवर्त्ती पदार्थ के एकदेश के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो, और उस एकदेश में सहचारी (समवेत) अवयवी इन्द्रिय से असन्निकृष्ट रहजाय । इन्द्रियसन्निकृष्ट एकदेशरूप अवयवों में अवयवी समवेत है, तथा उपलब्धि के कारण इन्द्रियसन्निकर्ष से सम्बद्ध है; तब एकदेश (इन्द्रियसन्निकृष्ट अवयवों) की उपलब्धि होनेपर अवयवी की उपलब्धि न हो, यह सर्वथा अनुपपन्न है । क्योंकि अवयवी–उस एकदेश के समान–इन्द्रियसन्निकृष्ट है । एक स्थिति में रहते हुए अवयव का ग्रहण होजाय, अवयवी का न हो, यह सम्भव नहीं ।

पुरोवर्त्ती अवयवों में समवेत अवयवी पूर्ण नहीं—इस विषय में यह आशंका उठाईजासकती है कि अवयवी, सम्पूर्ण अवयवों में समवेत रहता है, किन्हीं

सीमित अपूर्ण अवयवों में नहीं। पुरोवर्ती पदार्थ के सम्पूर्ण अवयवों का कभी ग्रहण होता नहीं। सामने के अवयवों से पीछे के अवयवों का व्यवधान रहता है। इसलिए पूर्ण अवयवी का ग्रहण होना कभी सम्भव नहीं; क्योंकि केवल उपलब्ध अवयवों में अवयवी पूरा समाप्त नहीं होजाता। यदि उतने में पूर्ण अवयवी रहता, तो एकदेश की उपलब्धि होनेपर अवयवी की उपलब्धि होजाना मानाजासकता था। पर उतने एकदेश में पूर्ण अवयवी समवेत नहीं हैं, उसके आश्रयभूत अन्य अवयव भी शेष हैं, जो व्यवहित होने से अनुपलब्ध हैं। किसी वस्तु की सम्पूर्णता तभी होती है, जब उसका कुछ शेष न रहा हो। शेष रहने पर तो पदार्थ अपूर्ण मानाजायगा। प्रस्तुत प्रसंग में यही बात है; जिन बहुत अवयवों में अवयवी समवेत है, वहाँ जो अवयव अव्यवहित हैं, वहाँ अवयवी का प्रत्यक्ष से ग्रहण होने; एवं व्यवहित अवयवों में न होने से अवयवी के प्रत्यक्ष के विषय में एकदेश की उपलब्धि की स्थिति बनी रहती है। तब यही मानना चाहिए कि प्रत्यक्ष से अगृहीत भाग का तथा सम्पूर्ण अवयवी का ज्ञान अनुमान से होता है।

पुरोवर्त्ती अवयवों के ग्रहण के साथ पूर्ण अवयवी का ग्रहण—उक्त आशंका का समाधान इसप्रकार समझना चाहिए। अवयवों में समवेत परन्तु उनसे अतिरिक्त एक इकाई के रूप में जब अवयवी को स्वीकार कियाजाता है, और यह मानाजाता है कि पुरोवर्त्ती पदार्थ के सम्मुखीन अव्यवहित भाग को इन्द्रिय-सन्निकृष्ट होने के कारण प्रत्यक्ष से गृहीत कियाजाता है; उसके साथ वहाँ समवेत अवयवी का इन्द्रियसन्निकृष्ट होने से प्रत्यक्ष होजाता है। इस स्थिति में अवयवी का क्या अगृहीत रहजाता है? जिसके कारण यह कहाजाय कि अवयवी के एकदेश की उपलब्धि हुई है। वस्तुतः कारणभूत अवयवों के अतिरिक्त अवयवी का अन्य कोई एकदेश-अंश-भाग या टुकड़े नहीं होते। अवयवी सदा एक इकाई के रूप में अभिन्न-अच्छिन्न रहता है। उस इकाई में अवयव-व्यवहार अनुपपन्न है।

यह कहना युक्त न होगा कि जिन अवयवों का इन्द्रियसन्निकर्ष से ग्रहण होता है, उनके साथ उतना अवयवी गृहीत होजाता है; और जिन अवयवों का व्यवधान के कारण ग्रहण नहीं होता, उतने अवयवों के साथ का अवयवी गृहीत नहीं होता। ऐसे कथन की अयुक्तता का कारण यह है—अवयवों में भेद होने पर भी उनमें समवेत अवयवी एकमात्र है। अवयवों के भेद के साथ उन्हीं अवयवों में अवयवी का भेद नहीं होता। ऐसा सम्भव भी नहीं; क्योंकि पदार्थ में एकता का नियामक वही एकमात्र अवयवी है। यदि अवयवों की अनेकता के समान गृहीत और अगृहीत अवयवों में अवयवी अनेक माने जायें, तो पुरोवर्ती घट, पट, पेड़, मकान आदि पदार्थों में एकत्व का बोध सर्वथा असम्भव होगा;

अथवा उसे नितान्त भ्रान्त कहाजायगा। परन्तु ऐसा नहीं है; एकत्व का अस्तित्व व व्यवहार पूर्णरूप में यथार्थ है।

यदि कहाजाय–अनेक अवयवों में एकमात्र अतिरिक्त अवयवी को स्वीकार न कर अवयवों के समूह अथवा समुदाय के आधार पर एकत्व का व्यवहार सम्पन्न होसकता है। ऐसी मान्यतावाले व्यक्ति से पूछाजासकता है कि वह समुदाय किसको कहता है? क्या अवयवों की अशेषता–सम्पूर्णता का नाम समुदाय है; अथवा उन अवयवों की परस्पर प्राप्ति–सम्बन्ध, अर्थात् समस्त अवयवों का संश्लेषणपूर्वक सन्निवेश का नाम समुदाय एवं समूह है?

दोनों अवस्थाओं में समुदाय का ग्रहण असम्भव है। क्योंकि वृक्ष, घट, पट आदि किसी पदार्थ के सम्पूर्ण अवयवों का एकसाथ ग्रहण नहीं होसकता; व्यवहित अवयव सर्वदा अगृहीत रहेंगे। तब अवयवों की सम्पूर्णता को समुदाय मानकर सम्पूर्ण अवयवों के कभी ग्रहण न होने से समुदाय का ग्रहण कभी सम्भव न होगा। यदि अवयवों के सम्बन्ध अथवा सन्निवेश को समुदाय मानाजाता है, तो समस्त सम्बन्ध अथवा सन्निवेश पूर्णरूप से कब दिखाई देता है? ऐसे समुदाय-भूत वृक्ष का ग्रहण कभी सम्पन्न न होगा। किसी भी पदार्थ के कुछ अवयवों से अन्य अवयव सदा व्यवहित रहते हैं। ऐसी दशा में न सम्पूर्ण अवयवों का ग्रहण सम्भव है, और न उनकी प्राप्ति अथवा सम्बन्ध का। जब सम्बन्धी का ग्रहण नहीं, तो उसके आश्रित सम्बन्ध का ग्रहण कैसे होगा? फलतः एकदेश के ग्रहण के साथ 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान तभी संगत होता है, जब अवयवों में अवयवी नामक द्रव्यान्तर की उत्पत्ति स्वीकार कीजाती है। तात्पर्य है, सम्पूर्ण अवयवों में एकमात्र अवयवी समवेत रहता है, पर वह अवयवों से अतिरिक्त है। इसीलिए यत्किञ्चित् अवयवों के दीखने पर पूर्ण अवयवी इकाई का प्रत्यक्ष होजाता है। अवयवसमूहमात्र की कल्पना में 'वृक्षः, घटः, पटः' आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता ॥ ३२ ॥

अवयवी के अस्तित्व में सन्देह—गत सूत्र में 'वृक्षः, घटः, पटः' आदि प्रत्यक्षज्ञान की उपपत्ति के लिए अवयवी की सत्ता को स्वीकार कियागया। इस विषय में शिष्यद्वारा उद्भावित सन्देह को सूत्रकार ने सूत्रद्वारा प्रस्तुत किया—

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३३ ॥ (६४)

[साध्यत्वात्] साध्य होने से [अवयविनि] अवयवी के विषय में [सन्देहः] सन्देह है।

गत सूत्र में 'अवयविसद्भावात्' जो हेतु दियागया है, वह वस्तुतः युक्त नहीं है; क्योंकि इस बात को अभी प्रमाणों के आधार पर सिद्ध नहीं किया-

गया कि अवयवसमुदाय के रूप मे प्रतीयमान पदार्थ उन अवयवों से अतिरिक्त है, उन अवयवों से उत्पन्न होता और उन्हींमें समवेत रहता है। इसप्रकार साध्य होने से अवयवी 'है, या नहीं ?' यह सन्देह बना रहता है। साध्य को ही सिद्ध समझकर हेतुरूप में प्रस्तुत करदियागया, यह केवल विप्रतिपत्ति है; एक विरुद्ध पक्ष को उठाकर निराधार बात हेतुरूप में कहदीगई है। यह विप्रतिपत्ति ही अवयवी के विषय में सन्देह का जनक है। अतः उक्त हेतु अहेतुमात्र है, अपने अभिलषित को सिद्ध नहीं करता ॥ ३३ ॥

वस्तुग्रहण 'अवयवी' का साधक—सूत्रकार ने–अवयवी को स्वीकार न करने की दशा में–दोष का उद्भावन करते हुए बताया—

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३४॥ (६५)

[सर्वाग्रहणम्] सबका अग्रहण होजायगा, [अवयव्यसिद्धेः] अवयवी के असिद्ध मानेजाने से।

यदि अवयवी को असिद्ध मानाजाता है, अवयवी की अवयवातिरिक्त सत्ता स्वीकार नहीं कीजाती, तो किसी वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान न होपायेगा। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि भेदों में सभी पदार्थों का समावेश है। अवयवी के अस्वीकार में किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं। कारण यह है कि पदार्थ की रचना उसके मूल उपादान-तत्त्व परमाणु से प्रारम्भ होती है। यदि परमाणुसमुदाय द्रव्यान्तर को उत्पन्न नहीं करता, तो वह परमाणुरूप में अवस्थित रहेगा। परमाणु कभी दृष्टि का विषय नहीं होता। तत्त्व की वह अवस्था अतीन्द्रिय है। परन्तु प्रत्येक आँख रखनेवाला व्यक्ति विविध पदार्थों को लोक में दृष्टिगोचर करता है। इस दर्शन (ज्ञान) का विषय यदि अवयवों से अतिरिक्त कोई अवयवी नहीं है, तो ये द्रव्यादि पदार्थ कैसे गृहीत होजाते हैं ? केवल परमाणुसमुदाय मानने पर इनका चक्षु आदि से ज्ञान होना सम्भव नहीं। परन्तु ज्ञान होता, स्पष्टरूप में जानाजाता है–यह पात्र है, वृक्ष है; काला है, हरा है; छोटा है, बड़ा है; जुड़ा है, अलग है; सक्रिय है, सत्तावाला है; मृद्विकार अथवा स्वर्ण आदि का विकार है, इत्यादि रूप में द्रव्यादि पदार्थों का प्रत्यक्ष बराबर होता है। मृद्विकार मृदवयवों में तथा स्वर्णादिविकार स्वर्णादि-अवयवों में समवेत रहकर द्रव्यभाव से गृहीत होते हैं। गुणादि धर्मों का भी इसीप्रकार स्वरूप में अस्तित्व जानाजाता है। इन सभी द्रव्यादि पदार्थों का ग्रहण होने से स्पष्ट होता है–अवयवों से अतिरिक्त-अवयवी अवश्य है, जो उन्हीं अवयवों से उत्पन्न होकर उन्हींमें समवेत रहता है। यदि ऐसा न हो, तो किसी पदार्थ का ग्रहण न होगा; क्योंकि उस दशा में परमाणुसमुदाय अतीन्द्रिय परमाणु से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ३४ ॥

अवयवी के अन्य साधक—सूत्रकार ने अवयवी के सद्भाव में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥ (९६)

[धारणाकर्षणोपपत्तेः] धारण और आकर्षण की उपपत्ति—सिद्धि से [च] तथा (अवयवी का अस्तित्व निश्चित होता है)।

घड़े के एक किनारे को पकड़कर जब उठायाजाता है, तो पूरा घड़ा उठा-चला आता है (—धारण)। ऐसे ही जब कपड़े के एक छोर को पकड़कर खींचा-जाता है, तो सारा कपड़ा खिंचा चला आता है। यह स्थिति तिनका, पत्ता, पत्थर, लकड़ी आदि सभी पदार्थों में देखीजाती है। विचारना चाहिए, ऐसा क्यों होता है. वस्तु का जो देश पकड़ में है, उतने का धारण—आकर्षण होना चाहिए; पर ऐसा न होकर वह क्रिया सम्पूर्ण द्रव्य में होजाती है। तब विचारणीय है—उसका आधार क्या है ?

धारण और आकर्षण किसी वस्तु में तभी होते हैं, जब उन अवयवों को संगृहीत—इकट्ठा करदियाजाता है। यह संग्रह अवयवों के दृढ़ संयोग के कारण होता है। कच्चे घड़े आदि में अवयवों का ऐसा दृढ़ संयोग—स्नेह और द्रवत्व गुणवाले—जलों के संयोग से होता है। पक्के घड़े आदि में उसका कारण अग्नि-संयोग है। अवयवों का परस्पर साधारण संयोग द्रव्य में वैसी स्थिति को उत्पन्न नहीं करता। यदि ऐसा न मानाजाय, तो बालू के ढेर से बालू को मुट्ठी-भर उठाने पर बालू का ढेर उठाचलाआना चाहिए। पर ऐसा कभी नहीं होता। इससे स्पष्ट है, बालू के कणों का वह परस्पर साधारण संयोग उन अवयवों में संग्रह को उत्पन्न नहीं करता, जो घट आदि द्रव्यों के अवयवों में देखाजाता है। ऐसा संग्रह अवयवों में द्रव्यान्तररूप अवयवी की उत्पत्ति का प्रयोजक है। यह प्रक्रिया द्व्यणुक आदि की रचना से प्रारम्भ होजाती है। यदि उस अवस्था में द्रव्यान्तर की उत्पत्ति नहीं मानीजाती, तो किन्हीं एकाधिक वस्तुओं को—लाख अथवा अन्य किसी जोड़नेवाली सामग्री से—परस्पर जोड़ देनेपर, वहाँ धारण-आकर्षण न होने चाहिएँ। क्योंकि अवयव-स्थानीय उन वस्तुओं में—जोड़े जाने पर भी—द्रव्यान्तरोत्पत्तिरूप एकता न मानेजाने से बालुकणों के समान धारण-आकर्षण न होगा। पर ऐसा होता है, अर्थात् दृढ़ संयुक्त वस्तुओं में धारण-आकर्षण देखे-जाते हैं। यह उनके एकाकार बनादेने का फल है। यह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है कि धारण-आकर्षण वस्तु की एकता पर आधारित हैं। अनेक अवयवों में वह एकता द्रव्यान्तर (अवयवी) की उत्पत्ति को माने विना सम्भव नहीं।

कहाजासकता है कि वस्तुओं में धारण-आकर्षण की अनुभूत स्थिति को वास्तविक व युक्त मानते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि अवयवातिरिक्त

अवयवी को स्वीकार कियाजाय। 'वृक्षः, घटः, पटः' आदि ज्ञान का विषय अवयवी न होकर 'परमाणुसञ्चय' अर्थात् परमाणुओं का समूह मानाजासकता है। अवयवसमूह में वृक्षादि बुद्धि होती है।

यह कथन तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। परमाणुसमूह यदि परमाणुओं से अतिरिक्त है, और परमाणुओं में विद्यमान रहता है; तो 'समूह' के नाम से 'अवयवी' को स्वीकार करलियाजाता है। नाम चाहे कुछ रखलिया-जाय, पर वह स्वरूप से एकमात्र है, और अवयवों में रहता है; यह अवयवी का स्वरूप है। यदि समूह अवयवों से अतिरिक्त अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता, वह परमाणुरूप है; तो वृक्षादि पदार्थों में न तो एकत्व की प्रतीति सम्भव होगी, और न विभिन्न पदार्थों के विलक्षण स्वरूप में उभरने का कोई कारण बताया जासकता है। यदि अनेकात्मक परमाणुओं में एकत्व की प्रतीति मानीजायगी, तो वह स्पष्टरूप से भ्रान्त होगी। अनेक परमाणुओं में एकत्व की प्रतीति को यथार्थ मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। तात्पर्य है, 'यह एक पेड़ है, यह एक घड़ा है' इत्यादि में एकत्व का विषय क्या एक ही अर्थ है, या अनेक हैं? यदि पहला है, तो अवयवी को स्वीकार करलिया। यदि दूसरा है, तो अनेक में एक ज्ञान होना विषय-विरुद्ध ज्ञान होने से वह भ्रान्तिपूर्ण है। फलतः धारण-आकर्षण के आधार पर समस्त व्यवहार की सम्पन्नता के लिए अवयवी को स्वीकारना अनिवार्य है ॥ ३५ ॥

अनेक में एकत्व-बुद्धि वस्तुभूत नहीं—प्रकारान्तर से अनेक में एकत्व-बुद्धि का उपपादन कर साथ ही सूत्रकार उसका समाधान करता है—

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥ ३६ ॥ (९७)

[सेनावनवत्] सेना और वन के समान [ग्रहणम्] ज्ञान (होता है, अनेक में एक का), [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [अतीन्द्रियत्वात्] अतीन्द्रिय होने से [अणूनाम्] परमाणुओं के।

सेना में अनेक व्यक्ति होते हैं। पर पंक्ति में खड़े हुए उनको दूर से देखने पर उनमें एकत्व की बुद्धि होती है, यह एक सेना है, और दिखाई भी एक देती है। अनेक होते हुए भी वे व्यक्ति पृथक्-पृथक् दिखाई नहीं देते। यह अनेक में एकत्व-प्रतीति है, और इसे अयथार्थ नहीं मानाजाता।

इसीप्रकार जंगल में अनेक पेड़ खड़े होते हैं। वे एक पंक्ति में नहीं होते, और प्रत्येक पेड़ एक-दूसरे से अलग होता है, यह वन में समीप जाने पर स्पष्ट होजाता है। दूर से देखने पर वह एक घना जंगल दिखाई पड़ता है। उसमें 'यह एक वन है' प्रतीति यथार्थ मानीजाती है। इन उदाहरणों में यह ध्यान देने की बात है कि सेना में प्रत्येक व्यक्ति, और वन में प्रत्येक पेड़, एक-दूसरे से

अलग होते हैं; वहाँ वे नियम लागू नहीं होते, जो अवयवी की उत्पत्ति के लिए बतायेगये हैं—अवयवों का परस्पर संश्लिष्ट होजाना—आदि। इसलिए सेना, वन आदि में एकत्व-बुद्धि का आश्रय अवयवी को नहीं मानाजासकता। फलत: उक्त उदाहरणों में जैसे अनेकों में एकत्व-बुद्धि यथार्थ है, ऐसे अनेक परमाणुओं में एकत्व-बुद्धि की यथार्थता का उपपादन सम्भव है। एकत्व-बुद्धि के लिए अवयवी की कल्पना आवश्यक नहीं।

इस कथन पर आचार्य ने बताया, यह ठीक है—सेना, वन आदि व्यवहार के आधार पर अनेक में- एक बुद्धि का होना कहाजासकता है, परन्तु यह बुद्धि यथार्थ न होकर भाक्त होती है, और गौण मानीजाती है। इसे गम्भीरतापूर्वक इसप्रकार समझना चाहिए—

सेना व वन आदि उदाहरणों में व्यक्ति तथा वृक्षों के अलग-अलग होने का ग्रहण दूर रहने के कारण नहीं होता। यह ढाक है, या खैर का पेड़ है, इसप्रकार उनकी जाति की पहचान भी दूरी के कारण नहीं होपाती। वायु से उनके पत्तों व शाखाओं का हिलना-डुलना भी दिखाई नहीं देता। व्यक्तियों के दूर से हाथ-पैर आदि हिलते नहीं दीखते, केवल व्यक्तियों तथा विविध वृक्षों के झुण्ड-झुरमुट दिखाई देते हैं, इसका कारण है—दूरी का होना। इसी आधार पर सेना, वन आदि में एकत्व की प्रतीति को यथार्थ न मानकर गौण मानागया है। परन्तु परमाणुओं के विषय में ऐसी स्थिति नहीं है। सेना और वन के सब पृथक्-पृथक् अङ्ग समीप जाने पर ठीक दिखाई देते हैं; परमाणु अतीन्द्रिय होने से—दूर या समीप कहीं हों—दिखाई नहीं देसकते। इसलिए उनके विषय में यह नहीं कहाजासकता कि दूरी के कारण उनके पृथक्त्व का ग्रहण नहीं होता, उनके समूह का ग्रहण होजायगा; और उसके आधार पर पदार्थ में एकत्व-प्रतीति का होना सम्भव होगा।

फिर इस विषय में यह भी विचारणीय है कि जो अतिरिक्त अवयवी के सद्भाव को स्वीकार नहीं करता, केवल परमाणु-पुञ्ज के आधार पर सब व्यवहार का सम्पन्न होना स्वीकार करता है, उसके विचार से सेना व वन के अङ्ग भी तो सब परमाणुओं का ही ढेर हैं; तब यह परीक्ष्य विषय की सीमा में आजाता है। यही तो विचार कियाजारहा है कि एकत्व का विषय परमाणुपुञ्ज होसकता है, या नहीं? सेना और वन आदि भी परमाणुओं के पुञ्ज हैं। वे स्वयं साध्यकोटि में हैं, उन्हींको साध्यसिद्धि के लिए उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करदियागया। जो स्वयं साध्य है, उसीको साध्यसिद्धि के लिए हेतु या उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना अयुक्त है।

यदि कहाजाय, सेना—वन आदि में 'एकत्व' का होना देखाजाता है; उसका अनुभव होता है। देखेहुए या अनुभूत विषय का अपलाप नहीं कियाजासकता।

इसलिए सेना आदि में 'एकत्व' का ज्ञान साध्यकोटि में नहीं डालाजाना चाहिये।

यह कथन भी संगत नहीं है। कारण यह है कि 'दर्शन का विषय क्या है?' इसीकी तो परीक्षा कीजारही है। जिसको कहते हो–यह देखाजाता है, अथवा अनुभूत होता है–वह है क्या ? वह क्या केवल परमाणुपुञ्ज है ? अथवा परमाणुओं से अतिरिक्त कोई द्रव्य है ? यहाँ केवल 'देखाजाना' इन दोनों विकल्पों में से किसी एक का साधक नहीं होता। परमाणु अनेक हैं, यदि उनके पृथक्त्व का ग्रहण न होने के कारण उनमें अभेद मानकर 'एकत्व' का ग्रहण होना स्वीकार कियाजाता है, तो यह ज्ञान यथार्थ होगा। अनेक परमाणुओं में 'एकत्व' का ज्ञान विपरीत ज्ञान है; जैसे स्थाणु में पुरुष का ज्ञान, सीप में चाँदी का ज्ञान, रस्सी में साँप का ज्ञान। ऐसा ज्ञान तभी होता है, जब पुरुष में पुरुष का ज्ञान, चाँदी में चाँदी का ज्ञान, साँप में साँप का ज्ञान मुख्यरूप से पहले होचुका है। इसीके अनुसार अनेक में एकता का ज्ञान तभी सम्भव है, जब कहीं मुख्यरूप से एक में एकता का ज्ञान पहले होचुका हो। परन्तु उसके मत में ऐसा ज्ञान होना असम्भव है, जो परमाणुओं से अतिरिक्त द्रव्यान्तर के रूप में अवयवी को नहीं मानता। एकत्व के मुख्यज्ञान [एक में एकत्व का ज्ञान–'तस्मिंस्तत्' ज्ञान] के लिए उस मत में प्रत्यक्षग्राह्य एक वस्तु का मिलना सम्भव नहीं। एक परमाणु सदा अतीन्द्रिय रहता है; वह कभी प्रत्यक्षग्राह्य नहीं। फलतः यह 'एकत्व' का ग्रहण [यह एक पेड़ है, एक घड़ा है इत्यादि ज्ञान] अभिन्न–एकमात्र विषय में होना मानाजाना चाहिये। वही 'एकत्व' का विषय 'अवयवी' है, जो अपने कारण अवयवों में समवेत हुआ उत्पन्न होजाता है। उसका अस्तित्व अवयवों से अतिरिक्त रहता है। किसी वस्तु के दीखने पर वह अवयवी पूर्ण इकाई के रूप में दीखता है; अवयव पूरे कभी नहीं दीखते।

अवयवि-निरासवादी एकत्व के मुख्यज्ञान के लिए अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसका कहना है–विभिन्न इन्द्रियों के विषय शब्द आदि में 'एकत्व' का ज्ञान मुख्यज्ञान है। 'यह एक शब्द है' ऐसा ज्ञान–एक में एकत्व का ज्ञान होने से–मुख्यज्ञान है। इसके आधार पर 'अनेक परमाणुओं में एकत्व का ज्ञान' गौणरूप में होजाना युक्त माना जासकता है। गौण ज्ञान के लिए जो पहले मुख्यज्ञान होने की अपेक्षा–आवश्यकता बताई गई, वह शब्द आदि के ग्रहण में पूरी होजाती है।

वस्तुतः शब्द आदि के उदाहरण परमाणुसमूह-मात्र माननेवाले वादी के अभीष्ट को सिद्ध नहीं करते। कारण यह है कि शब्द आदि के उदाहरण के आधार पर वस्तु के ग्रहण–प्रत्यय–ज्ञान होने की दो स्थितियाँ सामने आती हैं। एक है–अयथार्थ [गौण] ज्ञान की स्थिति; जैसे–स्थाणु में पुरुष का ज्ञान

आदि । दूसरी है–यथार्थ [मुख्य–प्रधान] ज्ञान की स्थिति; जैसे–एक शब्द में 'एकत्व' का ज्ञान। पहला ज्ञान–'अतस्मिंस्तत्' है, अर्थात् जो वैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होना। दूसरा ज्ञान है–'तस्मिंस्तत्' अर्थात् जो जैसा है, उसमें वैसा ज्ञान होना। अब हमारे सामने विचार के लिए एक ज्ञान आता है—'अनेक परमाणुओं में एकत्व का ज्ञान'। पूर्वोक्त ज्ञान के दो उदाहरणों के आधार पर यह संशय होजाता है कि प्रस्तुत ज्ञान [अनेक परमाणुओं में एकत्व के ज्ञान] को पहले उदाहृत ज्ञान के समान–'अतस्मिंस्तत्'–अयथार्थ (गौण) मानाजाय; अथवा दूसरे उदाहृत ज्ञान के समान–'तस्मिंस्तत्'–यथार्थ (मुख्य) ज्ञान मानाजाय? इस संशय की निवृत्ति के लिए कोई विशेषहेतु दिखाई नहीं देता, जिसके आधार पर वादी का अभीष्ट सिद्ध होता हो।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि विभिन्न इन्द्रियों के विषय शब्द, गन्ध, रूप आदि को–वादी घट, पट आदि के समान–परमाणुओं का सञ्चय–समूह-मात्र मानता है। ऐसी स्थिति में गन्ध, शब्द आदि को उदाहरण के रूप में साध्यसिद्धि के लिए प्रस्तुत नहीं कियाजासकता; क्योंकि यह स्वयं परीक्ष्य कोटि में आजाता है। यदि गन्ध, शब्द आदि परमाणुसमूह नहीं हैं, तो परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त वस्तुतत्त्व की सिद्धि होजाती है, जो वादी को अभीष्ट नहीं।

इसीप्रकार [धारण, आकर्षण, एकत्वप्रत्यय आदि के समान] परिमाण, संयोग, स्पन्दन तथा जाति के आधार पर अवयवी की सिद्धि होती है। यथाक्रम इस विषय का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कियाजाता है।

परिमाण

पेड़, घड़ा, कपड़े आदि वस्तुओं में 'एकत्व' का ज्ञान–स्थाणु में पुरुषज्ञान के समान अयथार्थ न होकर–यथार्थज्ञान है। क्योंकि अवयवी–इकाई इस ज्ञान का विषय है। यह एक में एकत्व का ज्ञान है। इसमें विशेषहेतु है–एकत्व के साथ महत्परिमाण का सामानाधिकरण्य। 'यह एक बड़ा पेड़ है' ऐसा ज्ञान होता है [–अयमेको महान् वृक्षः]। परमाणु-समूह के परमाणुरूप होने से उसमें महत्परिमाण का ज्ञान असंगत होगा। क्योंकि यह असहत् में महत् प्रत्यय होने से अयथार्थ ज्ञान होगा; ऐसा ज्ञान प्रधानज्ञान की अपेक्षा रखता है, जहाँ महत् में महत् प्रत्यय हो। केवल परमाणुसमूहवादी के लिए ऐसा स्थल कहीं उपलब्ध न होसकेगा। फलतः महत् प्रत्यय के सामानाधिकरण्य से एकत्व-प्रत्यय का विषय 'अवयवी' को स्वीकार करलेना आपत्तिरहित है।

यदि कहाजाय कि शब्द में अणु और महान् प्रतीति होती है–'अणुः शब्दो महान् शब्दः' इत्यादि। अवयवीवादी शब्द को अवयवी नहीं मानता,

परन्तु शब्द में महत् प्रत्यय होता है, और वह यथार्थ होने से प्रधानप्रत्यय है। इससे–परमाणुपुञ्ज में अयथार्थ महत् प्रत्यय के लिए–प्रधानप्रत्यय की अपेक्षा पूरी होजाती है; तब अवयवी का स्वीकार करना अनावश्यक है।

उक्त कथन वास्तविकता की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। शब्द में जो अणु व महान् प्रतीति कही गई, वह वस्तुतः शब्द की इयत्ता [नाप = लम्बाई-चौड़ाई आदि] का अवधारण नहीं करती, प्रत्युत वह केवल शब्द के मन्द व तीव्र होने का बोध कराती है। महत् प्रत्यय वस्तु की इयत्ता को प्रकट करता है, जो शब्द में सम्भव नहीं। ध्वनि का मन्द या तीव्र होना उसके निमित्तों पर आधारित है, जो ध्वनि में लम्बाई-चौड़ाई आदि को अभिव्यक्त नहीं करते। द्रव्य वस्तु में वह लम्बाई-चौड़ाई देखीजाती है। बेर से बेल बड़ा है; तरबूज़ से बेल छोटा है, यह वस्तु के परिमाण अर्थात् इयत्ता का अवधारण करता है। उस इयत्ता व परिमाण का आश्रय कोई इकाईरूप धर्मी–द्रव्य सम्भव है। परमाणुसमूह में यह स्थिति नहीं होसकती; क्योंकि न वह एक-रूप है, और न उसका प्रत्यक्ष होना सम्भव है। यदि 'परमाणु-समूह' को परमाणुओं से अतिरिक्त एकरूप मानाजाता है, तो यही अवयवी का स्वरूप है; फिर उसका अस्वीकार कैसा ? वह समूह एक ही स्थिति में–अनेक परमाणुरूप और एक समूहरूप कहाजाना–परस्पर व्याहत होने से अमान्य होगा। फलतः एकत्व प्रत्यय के साथ महत् प्रत्यय का सामानाधिकरण्य अवयवी के अस्तित्व को स्पष्ट करता है।

संयोग

संयोग के आधार पर अवयवी सिद्ध होता है। जब कहाजाता है–'संयुक्ते इमे द्रव्ये' वे दो द्रव्य परस्पर संयुक्त हैं, इस प्रतीति में संयोग के आश्रय जो द्रव्य हैं, वे द्वित्व संख्या के आश्रय हैं। संयोग और द्वित्व का सामानाधिकरण्य यह स्पष्ट करता है कि वे द्रव्य अपनी-अपनी इकाई के रूप में विद्यमान हैं; अन्यथा उनमें द्वित्व का ज्ञान सम्भव न होगा। दो द्रव्यों के संयोग का प्रत्यय अवयवी के सद्भाव को स्पष्ट करता है।

यदि यह कहाजाय कि परमाणुओं का समुदाय संयोग का आश्रय मानाजासकता है; अवयवी की मान्यता के लिए आग्रह करना अनावश्यक है। तब प्रश्न सामने आता है कि 'समुदाय' का स्वरूप क्या है ? दो विकल्प सन्मुख हैं–क्या अनेकों का संयोग–अर्थात् अनेकों का मिलजाना–समुदाय है ? अथवा एक-एक परमाणु के अर्थात् प्रत्येक परमाणु के अनेक संयोगों का नाम समुदाय है ?

दोनों विकल्पों के अनुसार 'समुदाय' का स्वरूप 'संयोग' है ; अनेकों का एक संयोग अथवा प्रत्येक के अनेक संयोग। तब उभयत्र एक आपत्ति यह है

कि जब वादी के द्वारा कहाजाता है–संयोग का आश्रय समुदाय है, तो इसका तात्पर्य होता है–संयोग का आश्रय संयोग है। ऐसा संयोग कहीं उपलब्ध नहीं, जो संयोग का आश्रय हो। संयोगाश्रित संयोग कभी नहीं जानाजाता, यह स्थिति असम्भव है। जब कहाजाता है–'संयुक्ते इमे वस्तुनी' ये दो वस्तु संयुक्त हैं; इस प्रतीति में दो संयोग परस्पर संयुक्त गृहीत नहीं होते। फलतः समुदाय संयोगरूप नहीं होसकता। तब ऐसे समुदाय को संयोग का आश्रय कहना असंगत होगा।

दूसरे विकल्प में एक और आपत्ति है। प्रत्येक के संयोग को समुदाय कहने पर संयोग का द्वित्व के साथ सामानाधिकरण्य सम्भव न होगा। पर प्रतीति यही होती है–'द्वौ इमौ अर्थौ संयुक्तौ' ये दो पदार्थ संयुक्त हैं, अर्थात् संयोग के आश्रय हैं। संयोग के जो आश्रय हैं, वे द्वित्व संख्या के आश्रय हैं। जो अनेक हैं, बहुत हैं, उन्हें दो किस आधार पर कहाजायगा? या तो उन समूहों को दो इकाई के रूप में पृथक् मानाजाय; तब अवयवी की सिद्धि होगी। अन्यथा बहुतों में द्वित्व का ज्ञान विपरीतज्ञान होगा। यदि मात्र दो परमाणुओं का संयोग कहाजाय, तो उसका प्रत्यक्ष ग्रहण होना सम्भव नहीं। प्रत्यक्षज्ञान महत् द्रव्य का सम्भव है, इसलिए द्वित्व का आश्रय जो महत् द्रव्य है, वही संयोग का आश्रय है। द्रव्य के ऐसे स्वरूप को अवयवी कहाजाता है।

इस विषय में अवयविनिरासवादी का पुनः यह कहना है कि विरोधी के अभिमत गुणस्वरूप संयोग को हम नहीं मानते। हमारे विचार से परमाणुओं का ऐसा अव्यवहित सामीप्य 'संयोग' है, जिसका–प्रतीघात-आघात-चोट से नाश होजाय। परमाणु जब परस्पर इतने समीप आजाते हैं, जिसमें कोई व्यवधान नहीं रहता, और वह सामीप्य आघात से नष्ट होजानेवाला हो, परमाणु की ऐसी स्थिति को हम संयोग कहते हैं। वह आपके अभिमत गुणरूप संयोग के समान अर्थान्तर नहीं है। 'संयुक्तौ अर्थौ' इत्यादि प्रतीति में परमाणुओं की वह स्थिति संयोग का आश्रय मानीजासकती है। उसके लिए अवयवी की कल्पना व्यर्थ है।

वादी का उक्त कथन भी युक्त नहीं है। संयोग को अर्थान्तर न मानना अप्रामाणिक व असंगत है; क्योंकि संयोग अन्य अनेक पदार्थों की उत्पत्ति में कारण होता है। यदि उसका अपना अस्तित्व न हो, तो वह अन्य पदार्थों की उत्पत्ति में कारण कैसे होगा? शब्द (ध्वनि), रूप-रस आदि तथा स्पन्दन (क्रिया) की उत्पत्ति में संयोग कारण होता है। मुख में जिह्वा-दन्त आदि के संयोग, तथा बाहर भेरी-दण्ड आदि संयोग से, एवं ढोलक व तबला आदि पर हाथ की थाप पड़ते ही शब्द अभिव्यक्त होता है। रूप, रस आदि भी विभिन्न पदार्थों के संयोग से उन-उन द्रव्यों में उत्पन्न होते जानेजाते हैं। पत्तों से वायु

का संयोग होने पर वहाँ क्रिया उत्पन्न होजाती है। इसप्रकार जब संयोग अनेक अन्य पदार्थों की उत्पत्ति में कारण रहता है, तब उसे अर्थान्तर न मानना अप्रामाणिक है। मिले हुए (अव्यवहित सामीप्यवाले) दो द्रव्यों में गुणान्तर (संयोग) की उत्पत्ति के विना शब्दादि के प्रति उसकी कारणता का उपपादन नहीं कियाजासकता। फलतः वादी के द्वारा अभिहित संयोग का स्वरूप असंगत होने से अवयवी की मान्यता में कोई बाधा नहीं आती।

इसके अतिरिक्त संयोग एक विशेष गुणरूप में ज्ञान का विषय होता है। उसके अभाव को ग्रहण कियाजाता है। प्रतियोगी के विना किसी अभाव का कथन नहीं होता। संयोग के अभाव का ग्रहण अभाव के प्रतियोगी संयोग के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जब कहाजाता है–'कुण्डली गुरुः, अकुण्डलश्छात्रः' गुरु ने कानों में कुण्डल धारण किये हैं, और छात्र कुण्डलरहित है। यहाँ गुरु के कानों में कुण्डल-संयोग गृहीत होता है, और छात्र के कानों में कुण्डल-संयोग का अभाव। यह स्थिति गुणान्तररूप में संयोग के अस्तित्व को सिद्ध करती है। फलतः परमाणुओं के अव्यवहित सामीप्यमात्र को 'संयोग' नहीं मानाजासकता।

यदि संयोगज्ञान का विषय अर्थान्तरभूत [अतिरिक्त गुण के रूप में स्वीकृत] संयोग को नहीं मानाजाता, तो क्या अर्थान्तर के प्रतिषेध को विषय मानाजायगा ? यदि ऐसा है, तो उस प्रतिषेध से प्रतिषिध्यमान वस्तु क्या है ? यह बताना चाहिये। प्रतिषिध्यमान [प्रतियोगी] वस्तु के विना प्रतिषेध [अभाव] का अभिलापन नहीं होता। जब अन्य किसी जगह–'संयुक्ते द्रव्ये' ये दो द्रव्य परस्पर संयुक्त हैं–इसप्रकार गृहीत किसी अर्थान्तर का–'अकुण्डलश्छात्रः' छात्र कुण्डल-संयोगरहित है–यहाँ प्रतिषेध कियाजाता है; तो बताना चाहिये, वह प्रतिषिध्यमान वस्तु क्या है ? निश्चित है, वह गुणभूत अर्थान्तर संयोग है, जिसका अन्यत्र ग्रहण कियागया, और यहाँ उसीके अभाव का ग्रहण कियाजारहा है। उस संयोग-गुण का ग्रहण उसी अवस्था में होता है, जब वह दो महत् द्रव्यों में आश्रित हो। महत् न होने से परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने के कारण उनमें आश्रित संयोग का ग्रहण नहीं होसकता। वे महत् द्रव्य–जिनमें आश्रित संयोग का ग्रहण होता है–अवयवी से अतिरिक्त और कोई नहीं।

स्पन्द-स्पन्दन (क्रिया)

किसी वस्तु के हिलने-डुलने का नाम स्पन्द या स्पन्दन है। यह एक क्रिया है। इसको स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष कियाजाता है। हवा के झोंके से पेड़-पौधों के पत्ते-टहनियाँ हिलने-काँपने लगते हैं, इसीका नाम स्पन्दन है। प्रत्येक आँखवाला व्यक्ति इस स्पन्दन को देखता है। विचारणीय है, इस स्पन्दन का आश्रय क्या है ? स्पष्ट है, इसके आश्रय पत्ते-टहनियाँ आदि हैं। यहाँ पत्ते आदि और उनमें

होनेवाली क्रिया दोनों को स्पष्ट देखाजाता है। यदि पत्ते आदि वस्तुतः केवल परमाणुओं के पुञ्जमात्र होते, तो उनके अतीन्द्रिय होने से पत्ते आदि का प्रत्यक्ष होना सम्भव न था। उनके अप्रत्यक्ष रहने से उनमें होनेवाली क्रिया का प्रत्यक्ष होना भी असम्भव था। परन्तु क्रिया का प्रत्यक्ष होता है; उसका अपलाप नहीं कियाजासकता। क्रिया का प्रत्यक्ष होना तभी सम्भव है, जब वह महत् द्रव्य में आश्रित हो। वह महत् द्रव्य केवल परमाणु या परमाणुपुञ्ज नहीं होसकता। वही अवयवी पदार्थ है; जो अपने कारण अवयवों में समवेत रहता है, पर उनसे अतिरिक्त है।

जाति (सामान्य)

अनेक व्यक्तियों में समान ज्ञान होने का अनुवर्त्तन (सिलसिला) देखाजाता है। दो-चार प्राणियों को पहले पहचानकर फिर समान आकृतिवाले उन समस्त प्राणियों को जानने-समझने में कभी कहीं बाधा नहीं आती। इस जानने-समझने का जो आधार है—धर्म, उसीको 'जाति' या 'सामान्य' कहाजाता है। इस परिस्थिति या व्यवस्था का अपलाप नहीं कियाजासकता। क्योंकि इसे यदि न मानाजाय, तो वस्तुज्ञानविषयक व्यवहार अनुपपन्न होजायगा। गाय को गाय कहाजाता है, घोड़े या घड़े को गाय नहीं कहाजाता। इस व्यवस्था का नियामक समस्त अतीत-अनागत-वर्त्तमान गायों में रहनेवाला 'गोत्व' धर्म है। इसका बोध प्रत्येक प्राणी को होजाता है। यह व्यवस्था प्रत्येक वर्ग के लिए समानरूप से समझलेनी चाहिये। प्रत्येक समान वर्ग में वह 'धर्म' व्यवस्थित रहता है। उसी के आधार पर गाय, घोड़ा, घड़ा, पेड़, हाथी, ऊँट, बकरी, मानव आदि का ज्ञान होना अवलम्बित रहता है। इस जातिरूप धर्म के आश्रय जो गाय, घोड़ा आदि समान आकृतिवाले अनन्त व्यक्ति हैं, वे अवयवीरूप हैं। केवल परमाणुपुञ्ज गाय या घोड़ा की आकृति में नहीं पहचाना जासकता। इसप्रकार 'जाति' के आधार पर यह लोकव्यवस्था व्यक्ति के रूप में अवयवी के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

यदि कहाजाय—गोत्व आदि धर्म का आश्रय परमाणुसमूह होसकता है, अवयवी मानना अनावश्यक है; तो यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि परमाणुसमूह का प्रत्यक्ष=इन्द्रियसन्निकर्ष=होने पर उसमें आश्रित जातिधर्म का ग्रहण होता है; अथवा अप्रत्यक्ष—इन्द्रियसन्निकर्ष न—रहने पर ग्रहण हो-जाता है? यदि पहला विकल्प मानाजाता है, तो परमाणुपुञ्ज के सामने होने पर उसके पुरोवर्ती अणुओं का ग्रहण होगा; उनसे व्यवहित जो मध्यभाग के अथवा दूसरी ओर के अणु हैं, उनका ग्रहण न होने से पूरे समूह की अभिव्यक्ति नहीं होसकेगी। जब समूह के पूरे अवयव गृहीत न होंगे, तो उनमें आश्रित

जातिधर्म भी अभिव्यक्त न होपायेगा । यदि दूसरे विकल्प को मानाजाता है, तो जो परमाणुसमूह सर्वथा व्यवहित हैं, इन्द्रिय-असन्निकृष्ट हैं, उनका और उनमें रहनेवाले जातिविशेष का ग्रहण होजाना चाहिए ।

यदि प्रथम विकल्प के अनुसार जितने अवयव गृहीत होते हैं, उतने ही में जाति की अभिव्यक्ति को मानलियाजाय, तो सामने खड़े एक वृक्ष में अनेक वृक्षों का होना स्वीकार करना पड़ेगा । जितने परमाणु एक ओर से गृहीत होते हैं, उतना एक वृक्ष मानलियाजायगा । अन्य ओर से देखने पर दूसरे परमाणु गृहीत होंगे; उतने में जातिविशेष का ग्रहण होने से वह उतना ही एक अन्य वृक्ष मानाजायगा । तब एक पेड़ बहुत पेड़ों के रूप में प्रतीत होना चाहिए । पर ऐसा कभी होता नहीं है । इससे स्पष्टरूप में यह परिणाम निकलता है कि जो अवयव विशेष सन्निवेश के साथ समुदित होगये हैं, उनमें आश्रित अथवा समवेत एक पदार्थ है, जो उन कारण–अवयवों से भिन्न है, अतिरिक्त है, वही जाति-विशेष की अभिव्यक्ति का आश्रय है; उसीमें जातिधर्म समवेत रहता है । वह पदार्थ अवयवी है ।

कारण-अवयवों से अतिरिक्त अवयवी मानने पर थोड़े अवयवों के दीखने से उस समस्त अवयवी पदार्थ का प्रत्यक्ष होजाता है । अवयवी के प्रत्यक्ष के लिए समस्त अवयवों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अवयवी उनसे अतिरिक्त है; इसलिए जितने भी अवयव गृहीत होजायें, उन्हींके साथ पूर्ण अवयवी गृहीत होजाता है; क्योंकि उन समस्त कारण-अवयवों में एक ही अवयवी समवेत है । कुछ अवयव दीखने से अवयवी का प्रत्यक्ष होजाता है ॥ ३६ ॥

अनुमान का अप्रामाण्य—प्रत्यक्ष की परीक्षा समाप्त होगई । अब अनुमान की परीक्षा प्रारम्भ कीजाती है । शिष्यों की भावना के अनुसार अनुमानलक्षण में व्यभिचार-दोष की आशंका प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने कहा—

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्र-माणम् ॥ ३७ ॥ (९८)

[रोधोपघातसादृश्येभ्यः] रोध–रुकावट, उपघात–तोड़-फोड़, सादृश्य–समानता के कारण [व्यभिचारात्] व्यभिचार-दोष से [अनुमानम्] अनुमान [अप्रमाणम्] प्रमाण–अर्थ का साधक नहीं रहता ।

अनुमान-प्रमाण के लक्षणसूत्र में अनुमान के तीन भेद बताये–पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट । इनमें कारण से कार्य का अनुमान होना पहला भेद है । जैसे–उमड़ते-घुमड़ते बादलों को उठते देखकर, अथवा चींटियों को अण्डे लेकर आते-जाते देखकर भविष्यत् में होनेवाली वृष्टि का अनुमान कियाजाता है । यह स्थिति व्यभिचार-दोष से दूषित है । क्योंकि बादल आने पर कभी-कभी वर्षा

नहीं होती, तथा चीटियों का भिटा तोड़ देने पर चींटियाँ अण्डे लेकर चल पड़ती हैं, उससे वर्षा का अनुमान करना मिथ्या होगा।

जहाँ कार्य से कारण का अनुमान कियाजाय, वह अनुमान का 'शेषवत्' नामक भेद है। नदी की बाढ़ से ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान कियाजाता है। परन्तु ऊपर किसी कारण पानी रुकाजाने से फिर खुलकर एकसाथ अधिक पानी आने पर नदी में बाढ़ आजाती है। उससे ऊपर वृष्टि होने का अनुमान व्यभिचारी-मिथ्या होगा।

तीसरा 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान वह है, जहाँ कार्य-कारणभाव न होने पर साधक से साध्य का अनुमान कियाजाता है। जैसे मोरों की ध्वनि से आनेवाली वर्षा का अनुमान कियाजाता है। परन्तु किसी व्यक्ति के द्वारा मयूर की ध्वनि का अनुकरण करने पर, ध्वनि के समान होने से उसके आधार पर, वृष्टि का अनुमान कियाजाना मिथ्या होगा। इन स्थितियों में अर्थ का साधक न होने से अनुमान अप्रमाण है। इसीके अनुसार अन्यत्र उसके अप्रमाण होने की संभावना बनी रहती है ॥ ३७ ॥

अनुमान के अप्रामाण्य का कथन निराधार—सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३८ ॥ (६६)

[न] नहीं (उक्त आशंका ठीक नहीं, क्योंकि) [एकदेशत्राससादृश्येभ्यः] किसी एक नदी में ऊपर रोक के हटजाने से अधिक पानी आजाना; त्रास—चींटियों के भिटे का टूटजाना, व्यक्ति के द्वारा मयूरसदृश ध्वनि का करना—इन अवस्थाओं से [अर्थान्तरभावात्] अनुमान के वास्तविक साधन भिन्न हैं।

ऊपर हुई वर्षा से जब नदी-नालों में इधर-उधर बाढ़ आती है, उस समय उनका पानी मट्टी से मिला या घुला रहता है, झाग उठते रहते हैं, बहाव बड़ा तेज़ होता है, जंगली फल, पत्ते, टहनियाँ, पेड़, झाड़-झंखाड़ उसमें बहते आते हैं, किनारों के बाहर पानी फैलजाता है। इससे ऊपर हुई वर्षा का अनुमान होता है। यह स्थिति–रुके हुए पानी के खुलजाने पर एक-आध नदी में अधिक पानी आने से–सर्वथा भिन्न है। केवल पानी बढ़जाने से ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान नहीं होता।

चींटियों के अण्डे लेकर चलने से भी आनेवाली वर्षा का अनुमान तभी होता है, जब जगह-जगह चींटियाँ इसप्रकार चल-फिर रही हों। यह प्रायः वर्षा ऋतु के आगमन का चिह्न होता है। भूमि के अन्दर रहनेवाले विशेष कृमि उस ऊष्मा (घमस) को समझते हैं, जो वर्षा ऋतु के आने से पूर्व भभकने लगती है। कहीं एक-आध जगह चींटियों का भिटा टूटजाने से उनका इधर-उधर जाना वर्षा का अनुमान नहीं कराता; क्योंकि इसका कारण ऋतु-परिवर्तन नहीं होता।

जहाँ व्यक्ति के द्वारा मयूर की ध्वनि का अनुकरण होता है, वह वस्तुतः मयूर की ध्वनि नहीं है। वर्षा का अनुमान तो मयूर-ध्वनि से संभव है। उसके सदृश मानव की अनुकरण-ध्वनि से जो वर्षा का अनुमान करेगा, वह मिथ्या ही होगा। मयूर आनेवाले वर्षा-ऋतु को समझते हैं। घुमड़ते बादलों को देखकर मयूर केकावाणी उच्चारण करते हुए नृत्य में लीन होजाते हैं। बादलों के न दीखने पर भी जब आने की संभावना रहती है, मयूर जाति उसको समझती है, उस दशा में उनकी थिरकन चालू रहती है। यह स्थिति वर्षा का अनुमान कराने में ठीक साधन है। जो व्यक्ति मयूर की वास्तविक ध्वनि और उसके अनुकरण के भेद को समझता है, उसके लिए वास्तविक ध्वनि साध्य का साधन होता है। सर्प आदि कीट मयूर की ध्वनि को ठीक पहचानते हैं। अनुकरण-ध्वनि से उनको कोई भय नहीं होता। फलतः अनुकरण-ध्वनि से वर्षा का अनुमान करना अनुमाता (अनुमान करनेवाले) का दोष है, जो असंबद्ध साधारण साधन से विशिष्ट अर्थ को जानना चाहता है। अनुमान-प्रमाण अपनी जगह निर्दोष है ॥ ३८ ॥

वर्त्तमानकाल का अभाव—अनुमान के विषय में शिष्य अन्य आशंका करता है। कहता है–अनुमान त्रिकालविषय कहागया है, क्योंकि अनुमान से तीनों कालों में होनेवाले पदार्थों का ग्रहण होजाता है। तीन कालों की पहचान क्रिया के आधार पर होती है, उसके अनुसार तीन काल बनते नहीं। शिष्य के आशय को समझते हुए सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्य-कालोपपत्तेः ॥ ३९ ॥ (१००)

[वर्त्तमानाभावः] वर्त्तमान का अभाव है, [पततः] गिरते हुए (फल आदि के) [पतितपतितव्यकालोपपत्तेः] पतित तथा पतितव्य काल के उपपन्न होने से।

अनुमान त्रिकाल-विषय नहीं—काल के व्यावहारिक विभाजन का आधार 'क्रिया' है। कोई क्रिया कहीं से प्रारम्भ होकर किसी जगह समाप्त होजाती है। क्रिया की चालू दशा में कुछ अंश पूरा या समाप्त होता है, कुछ अंश आगे होने के लिए शेष रहता है। जो होचुका, वह अतीत [भूत] काल है; जो आगे होना है, वह अनागत [भविष्यत्] काल है। वर्त्तमान काल कहीं नहीं रहता। समझने के लिए उदाहरण लें, पेड़ के डण्ठल से टूटकर फल गिरा। किसी केन्द्रबिन्दु पर फल का जितना मार्ग अभीतक तै होचुका है, वह अतीतकाल है। जितना मार्ग आगे तै करना शेष है, वह अनागतकाल है। वर्त्तमानकाल का यहाँ कहीं पता नहीं लगता, जहाँ 'पतति' क्रिया का प्रयोग संभव हो। ऐसी दशा में अनुमान को त्रिकालविषय बताना निराधार है ॥ ३९ ॥

वर्त्तमान के अभाव में अतीत-अनागत असिद्ध—सूत्रकार आशंका का समाधान करता है—

तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥ ४० ॥ (१०१)

[तयोः] उन दोनों (अतीत-अनागत) का [अपि] भी [अभावः] अभाव (प्राप्त होता है), [वर्त्तमानाभावे] वर्त्तमान के न रहने पर [तदपेक्षत्वात्] उस–वर्त्तमान की अपेक्षा होने से (अतीत-अनागत के अस्तित्व में)।

गतसूत्र में जो कहागया कि चालू क्रिया का जितना मार्ग तै होचुका, वह भूत; और जो आगे तै होने को है, वह भविष्यत् है ; वर्त्तमानकाल का यहाँ पता नहीं लगता। यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि कालविभाजन की अभिव्यक्ति क्रिया पर आश्रित है, मार्ग पर नहीं। जब कहाजाता है–'फलं पतति'–फल गिररहा है; यह गिरने की क्रिया प्रारम्भ से लगाकर जबतक चालू रहती है, वह वर्त्तमानकाल है। क्रिया चालू होने से पहले का काल–जबतक क्रिया उत्पन्न नहीं हुई है, वह–पतन -(गिरना)- क्रिया का अनागत–भविष्यत्–पतितव्य काल है। जब पतन-क्रिया पूरी होजाती है, समाप्त होजाती है, वहाँ से क्रिया का भूतकाल होजाता है। इसप्रकार जब द्रव्य में चालू रहती हुई पतनक्रिया गृहीत होती है, वह क्रिया का वर्त्तमानकाल है। यदि द्रव्य में चालू रहते पतन के ग्रहण को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो उत्पन्न होना और समाप्त होना किसका मानाजायगा ? वह क्रिया ही तो है, जो प्रारम्भ होकर समाप्त होती है। उसकी समाप्ति उसका भूतकाल है; जब तक उत्पन्न न हुई, वह भविष्यत् काल रहा। उन दोनों दशाओं में द्रव्य क्रियाहीन रहता है। जब द्रव्य सक्रिय है, क्रिया से सम्बद्ध है, वही वर्त्तमानकाल है। यह वर्त्तमानकाल क्रिया और द्रव्य के सम्बन्ध को ग्रहण कराने का प्रयोजक है। उसीके आश्रय पर अतीत और अनागतकाल हैं। यदि अन्तराल में से सक्रिय द्रव्यस्थिति–काल की उपेक्षा कीजाय, तो अतीत-अनागत भी अपना अस्तित्व खोबैठते हैं ॥ ४० ॥

अतीत-अनागत की सिद्धि परस्परापेक्ष नहीं—यह भी नहीं कहाजासकता. कि वर्त्तमान के अभाव में अतीत-अनागत परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होजायेंगे। इसी तथ्य को सूत्रकार ने बताया—

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः ॥ ४१ ॥ (१०२)

[न] नहीं [अतीतानागतयोः] अतीत और अनागत की [इतरेतरापेक्षा] एक-दूसरे की अपेक्षा–सहायता से [सिद्धिः] सिद्धि।

वर्त्तमान को माने बिना अतीत और अनागत की सिद्धि परस्पर एक-दूसरे की सहायता से नहीं होसकती। यदि वस्तुतः अतीत–अनागत एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होसकें, तो वर्त्तमान के अभाव को स्वीकार करने में कोई अड़चन

नहीं रहती। पर अतीत की अपेक्षा से अनागत का–और अनागत की अपेक्षा से अतीत का–सिद्ध होना किसप्रकार सम्भव नहीं है, यह समझना चाहिये।

यह एक निर्धारित तथ्य है–काल के विभाजन की अभिव्यक्ति किसी क्रिया अथवा अर्थ के सद्भाव पर आधारित है। वर्त्तमानकाल वह है, जब कोई क्रिया चालू रहती है, अथवा जबतक कोई पदार्थ विद्यमान रहता है। क्रिया अथवा पदार्थ की विद्यमानता से सम्बद्ध काल वर्त्तमान है। यदि इसे स्वीकार नहीं कियाजाता, तो अतीत-अनागत दोनों अन्योन्याश्रित रहने से असिद्ध होजायेंगे। अतीत अनागत के विना न होगा, और अनागत अतीत के बिना। एक-दूसरे के अभाव में दोनों किसीप्रकार आत्मलाभ नहीं करसकते। चालू क्रिया में जो केन्द्रबिन्दु उस क्रिया को अतीत–अनागत दो भागों में बाँटता है, वहाँ भी वह केन्द्रबिन्दु वर्त्तमानकाल का प्रतीक है।

वस्तुस्थिति यही है–जबतक कोई क्रिया एवं पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, वह उसका अनागतकाल है। उत्पन्न होकर जबतक चालू रहता है, वह वर्त्तमानकाल है। क्रिया के पूरे होजाने तथा पदार्थ के विघटित होजाने पर उनका अतीतकाल कहाजाता है। क्रिया और अर्थ के सद्भावरूप से अभिव्यक्त वर्त्तमानकाल अतीत और अनागत को अलग फाँटता है। इसलिए वर्त्तमान को स्वीकार किये विना अतीत-अनागत का अभिव्यञ्जन अशक्य है।

यदि यह मानाजाय, कि ह्रस्व-दीर्घ, ऊँच-नीच, प्रकाश-अन्धकार के समान अतीत-अनागत अन्योन्य की अपेक्षा से सिद्ध होसकते हैं। इस दीर्घ वस्तु से यह ह्रस्व है, और इस ह्रस्व की अपेक्षा यह दीर्घ है; इत्यादि लोकव्यवहार यथार्थ है। ऐसे ही परस्पर की अपेक्षा से अतीत-अनागत की सिद्धि सम्भव है; तब उन दोनों के अन्तरालवर्त्ती वर्त्तमानकाल को स्वीकार करना व्यर्थ है।

यह मान्यता तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। पहली बात तो यह है कि उक्त मान्यता की सिद्धि के लिए कोई विशेष हेतु प्रस्तुत नहीं कियागया। हेतु के विना केवल दृष्टान्त के आधार पर साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं होती। फिर दृष्टान्त की बराबरी में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत कियाजासकता है, जो उक्त मान्यता से विपरीत अर्थ का साधक हो। जैसे रूप-रस अथवा गन्ध-स्पर्श एक-दूसरे की अपेक्षा करके सिद्ध नहीं होते; ऐसे ही अतीत-अनागत भी एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध न होंगे। इस कथन में स्वारस्य केवल इतना है कि ह्रस्व-दीर्घ अथवा प्रकाश-अन्धकार का जैसा परस्पर सापेक्षभाव है, वह स्थिति अतीत-अनागत में स्वीकार नहीं कीजासकती। क्योंकि उस दशा में प्रत्येक क्रिया अथवा पदार्थ केवल अतीत-अनागत के रूप में प्रस्तुत होने से क्रिया व पदार्थ के सद्भाव का विलोप होजायगा। किसी भी अर्थ की प्रतीति होना सम्भव न

होगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु या तो अतीत होगी, या अनागत, जिसका ग्रहण असम्भव है। फलतः वर्त्तमानकाल की उपेक्षा नहीं कीजासकती ॥ ४१ ॥

वर्त्तमान के अभाव में सबके सद्भाव का विलोप—स्पष्ट है, वर्त्तमान-काल अर्थ के सद्भाव (विद्यमान होने) से अभिव्यक्त होता है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि का जब सद्भाव है, तभी कहाजाता है–"विद्यते द्रव्यम्, विद्यते गुणः, विद्यते कर्म" इत्यादि। जो इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता, सूत्रकार उसके मत में आपत्ति प्रस्तुत करता है—

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४२ ॥ (१०३)

[वर्त्तमानाभावे] वर्त्तमान के अभाव में [सर्वाग्रहणम्] सबका अग्रहण होगा, [प्रत्यक्षानुपपत्तेः] प्रत्यक्ष के उपपन्न न होने से।

प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होता है। इन्द्रिय का सन्निकर्ष विद्यमान पदार्थ के साथ होसकता है। अतीत और अनागत पदार्थ अविद्यमान होते हैं। अतीत उत्पन्न होकर नष्ट होचुका है, और अनागत अभी उत्पन्न नहीं हुआ। पदार्थ की यह दोनों अवस्था असद्रूप हैं। असत् [अविद्यमान] के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष सम्भव नहीं। सद्रूप [विद्यमानरूप] किसी पदार्थ को वह [वर्त्तमाननिरासवादी] स्वीकार नहीं करता। तब न तो प्रत्यक्ष का निमित्त [इन्द्रिय तथा घटादि पदार्थ का] सन्निकर्ष रहता है, न प्रत्यक्ष का विषय [घटादि] और न प्रत्यक्ष ज्ञान का होना सम्भव है। जब प्रत्यक्ष न होगा, तो प्रत्यक्षपूर्वक होने से अनुमान और शब्द-प्रमाण भी उपपन्न न होसकेंगे। सब प्रमाणों के अभाव में किसी वस्तु का ग्रहण होना असम्भव होजायगा, जो सर्वथा अव्यवहार्य, अनभिवाञ्छनीय एवं अनिष्ट है। फलतः वर्त्तमानकाल का स्वीकार करना अत्यावश्यक है।

क्रियाबोध्य वर्त्तमानकाल—वर्त्तमानकाल का ग्रहण दोनों प्रकार से होता है, जैसा गत पंक्तियों में कहागया है। उसकी अभिव्यक्ति कहीं पदार्थ के सद्भाव (विद्यमान रहने) से होती है। 'घटः अस्ति, द्रव्यं वर्त्तते'–घड़ा है, द्रव्य है–इत्यादि ग्रहण वर्त्तमानकाल का अभिव्यञ्जक है, बोधक है। घड़ा या कोई अन्य द्रव्यादि पदार्थ जबतक विद्यमान रहता है, वह अपने सद्भाव से वर्त्तमानकाल का बोध कराता है।

इसके अतिरिक्त कहीं पर वर्त्तमानकाल की अभिव्यक्ति क्रिया के चालू रहने से होती है। क्रिया के चालू रहने का तात्पर्य है–किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए विविध प्रकार की क्रियाओं का सिलसिला; अथवा उसी क्रिया का अभ्यास। 'पचति'–पकाता है, एक क्रिया है। 'पकाना' यह कार्य सम्पन्न करना है। इसके लिए अनेक क्रियाओं का सिलसिला चालू रखना होता है। बटलोई

को साफ़कर चूल्हे पर रखना, उसमें अपेक्षित जल डालना, चावलों को धोकर उसमें छोड़ना, चूल्हे में अग्नि प्रज्वलित करना, आवश्यकता होने पर करछी से उन्हें चलाना, माँड निकालना, पकजाने पर नीचे उतारना। इसीसे सम्बद्ध और अनेक क्रिया बीच में चलती रहती हैं। चूल्हे पर बटलोई के चढ़ाने से उतारने तक 'पचति' क्रियापद से वर्त्तमानकाल अभिव्यक्त होता है।

ऐसे ही एक 'छिनत्ति' क्रिया है। एक व्यक्ति लकड़ी काटरहा है। वह बार-बार उचक-उचक कर कुल्हाड़े को उठाता और लकड़ी पर बलपूर्वक चोट करता है। जबतक लकड़ी कट नहीं जाती, तबतक उसका यही क्रम चलता रहता है। यह क्रिया का अभ्यास उतने काल को अभिव्यक्त करता है, जितने में लकड़ी कटपाती है। वही 'छिनत्ति' क्रिया से बोधित वर्त्तमानकाल है ॥ ४२ ॥

अर्थसद्भावबोध्य एवं क्रियाबोध्य का वैशिष्ट्य—इसी आधार पर सूत्रकार ने समझाया—जो यह 'पकायाजाना' और 'काटाजाना' है, वह क्रियमाण है, अर्थात् क्रिया का चालूरहना है। क्रिया की उस दशा में—

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४३ ॥ (१०४)

[कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेः] कृतता और कर्त्तव्यता की उपपत्ति–सिद्धि से [तु] तो [उभयथा] दोनों प्रकार से [ग्रहणम्] ग्रहण होता है (वर्त्तमानकाल का)।

पकाना या काटना आदि किसी क्रिया के चालू रहने पर वहाँ विविध प्रकार की अनेक अवान्तर क्रिया चलती रहती हैं। इसमें मुख्य क्रिया की कुछ अवान्तर क्रिया होचुकी होती हैं; कुछ आगे होनेवाली रहती हैं। जो होचुकी हैं, वे 'कृत' हैं; वे भूतकाल में चलीगईं। जो आगे होनेवाली हैं, उनका भविष्यत्-काल है। वे 'कर्त्तव्य' हैं। जैसे 'पचति' में बटलोई चूल्हे पर चढ़ाना, उसमें पानी डालना, चावल छोड़ना, आग जलाना आदि जितनी अवान्तर क्रिया होचुकी हैं, वे 'कृत'-कोटि में अर्थात् भूतकाल की कोटि में आजाती हैं। जो अवान्तर क्रिया—करछी चलाना, चावल-दाने का जाँचना आदि आगे होनेवाली हैं, वे 'कर्त्तव्य' हैं; अर्थात् भविष्यत्-काल की कोटि में आती हैं। परन्तु मुख्य क्रिया 'पचति' आरम्भ से अन्त तक निरन्तर चालू रहती है। इसप्रकार जब 'पचति' का अवान्तर क्रियाओं के आधार पर अभिलापन कियाजाता है, तब वर्त्तमान-काल भूत [कृत] और भविष्यत् [कर्त्तव्य] दोनों से सम्बद्ध हुआ अभिहित होता है। परन्तु जब केवल मुख्य क्रिया को अभिलक्ष्य कर वर्त्तमान का अभिलापन होता है, तब वहाँ विशुद्ध वर्त्तमानकाल अभिहित होता है। इसप्रकार क्रिया की चालू अवस्था में वर्त्तमानकाल का ग्रहण—भूत-भविष्यत् से सम्बद्ध तथा असम्बद्ध—दोनों प्रकार से होता है। सम्बन्ध में तीनों कालों का समाहार है; असम्बन्ध में विशुद्ध वर्त्तमान रहता है।

अर्थसद्भावबोध्य वर्त्तमान—यह वही स्थल है, जहाँ वर्त्तमानकाल स्थितिशील द्रव्यादि पदार्थ के द्वारा अभिव्यक्त होता है। 'विद्यते द्रव्यम्, विद्यते घटः' द्रव्य विद्यमान है, घट विद्यमान है, इत्यादि प्रतीति में जबतक घट आदि द्रव्य विद्यमान रहता है, यही स्थिति रहती है। इसमें विशुद्ध वर्त्तमानकाल का ग्रहण होता है। क्योंकि द्रव्य की स्थिति में किसी अवान्तर क्रिया एवं क्रियासन्तान के न होने से यहाँ भूत-भविष्यत् का प्रवेश नहीं होता। जहाँ क्रियासन्तान के नैरन्तर्य का कथन होता है–'पचति, छिनत्ति'–पकाता है, काटता है–इत्यादि प्रतीति में, वहाँ तीनों कालों का समाहार रहता है, अर्थात् भूत-भविष्यत् से सम्बद्ध वर्त्तमानकाल गृहीत होता है, जैसा गत पंक्तियों में कहागया।

आसन्न भूत-भविष्यत् में वर्त्तमान प्रयोग—आसन्न भूत अथवा आसन्न (समीप) भविष्यत् आदि अर्थ की विवक्षा होने पर लोकव्यवहार में वर्त्तमानकाल का प्रयोग देखाजाता है। आजाने के अनन्तर किसी के द्वारा पूछे जाने पर व्यक्ति कहता है–'एष आगच्छामि' बस आता ही हूँ। यहाँ आगमनक्रिया यद्यपि समाप्त होजाने से भूतकाल की कोटि में चलीगई है, पर यहाँ भूतसामीप्य में वर्त्तमान काल का प्रयोग होरहा है। ऐसे ही भविष्यत् के सामीप्य में वर्त्तमान का प्रयोग होता है। दो साथी कहीं जानेवाले हैं। एक ने कहा–जल्दी चलो, देर क्यों कररहे हो? दूसरे ने कहा–बस तुम चलो, मैं अभी आता हूँ, तुम्हें पकड़लेता हूँ। 'आना' और 'पकड़ना' क्रिया भविष्यत् में होनेवाली हैं; सामीप्य होने से वर्त्तमानकालिक प्रयोग होजाता है–'प्रयातु भवान्, अहं एष आगच्छामि, प्राप्नोमि च भवन्तम्'। व्याकरणशास्त्र में ऐसे विविध प्रयोगों की व्यवस्था कीगई है। इस सब विवेचन से वर्त्तमानकाल का अस्तित्व निर्धारित होजाता है॥ ४३॥

उपमान-परीक्षा—अनुमान-प्रमाण के त्रैकाल्य-विषय होनेके कारण, अनुमान-प्रमाण की परीक्षा के प्रसंग से वर्त्तमानकाल का विवेचन होजाने पर अनुमान की परीक्षा पूर्ण होजाती है। क्रमप्राप्त उपमान-प्रमाण की परीक्षा प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से कहा—

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः॥ ४४॥ (१०५)

[अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यात्] अत्यन्त साधर्म्य से, प्रायःसाधर्म्य से तथा एकदेशसाधर्म्य से [उपमानासिद्धिः] उपमान की सिद्धि नहीं होती।

उपमान-प्रमाण साधर्म्य के आधार पर अर्थबोध कराता है। पदार्थों में साधर्म्य तीन प्रकार का सम्भव है–अत्यन्तसाधर्म्य, प्रायःसाधर्म्य, एकदेश-साधर्म्य। साधर्म्य का कोई प्रकार उपमान को सिद्ध नहीं करपाता। अत्यन्तसाधर्म्य समानजातीय पदार्थों में सम्भव है, ऐसा प्रयोग कभी कोई नहीं करता–'यथा घटस्तथा घटः, यथा गौरेवं गौः'-जैसा घट है वैसा घट है;

अथवा जैसी गाय है वैसी गाय है। अत्यन्तसाधर्म्य में जैसे उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसे ही 'प्रायःसाधर्म्य' में नहीं होती। प्रायःसाधर्म्य का तात्पर्य है–कतिपय चिह्नों का समान होना। कान, सींग, पूँछ आदि चिह्न अनेक पशुओं के समान होते हैं। ऐसा उपमान का प्रयोग कभी कोई नहीं करता–'यथा अनड्वान् तथा महिषः'–जैसा बैल है वैसा भैंसा है। इसीप्रकार एकदेशसाधर्म्य से उपमान कभी नहीं सिद्ध होता; ऐसा होने पर प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक को उपमित कियाजासके, जो सर्वथा असम्भव है। एक-आध धर्म प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक अन्य वस्तु से मिलजाता है। फलतः उपमान प्रमाण का क्षेत्र न बनने से वह असिद्ध समझना चाहिये ॥ ४४ ॥

उपमान-लक्षण में दोष नहीं—सूत्रकार उपमानविषयक उक्त आशंका का समाधान करता है—

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषा-नुपपत्तिः ॥ ४५ ॥ (१०६)

[प्रसिद्धसाधर्म्यात्] प्रसिद्ध साधर्म्य से [उपमानसिद्धेः] उपमान-प्रमाण की सिद्धि होनेके कारण [यथोक्तदोषानुपपत्तिः] पूर्वोक्त दोष अनुपपन्न है।

उपमानप्रमाण के लक्षणसूत्र [१। १। ६] में 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' कहा है। प्रसिद्ध साधर्म्य से जहाँ साध्य का साधन हो, वह उपमान है। जिन पदार्थों का परस्पर साधर्म्य लोकप्रसिद्ध है, अथवा जिनका साधर्म्य प्रकृष्ट–निर्धारित रूप से ज्ञात होजाता है, वहीं उपमान-प्रमाण प्रवृत्त होता है। अत्यन्त अर्थात् पूर्ण साधर्म्य, प्रायःसाधर्म्य–कतिपय धर्मों की समानता, एवं अत्यल्प साधर्म्य के आधार पर उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती। तात्पर्य है–अत्यन्तसाधर्म्य आदि उपमान के प्रयोजक नहीं हैं। उसका प्रयोजक केवल 'प्रसिद्धसाधर्म्य' है, जो उपमान-प्रमाण के रूप में साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है।

ऐसा साधर्म्य गो-गवय का प्रसिद्ध है। यहाँ 'गवय' पद का गवय [नीलगाय] पशु में शक्तिग्रह साध्य है। नागरिक यह नहीं जानता, 'गवय' पद किस पशु का वाचक है। उसको बतायागया, जैसी गाय है वैसा गवय होता है, जो जंगलों में रहता है। नागरिक कभी जंगल में जाकर जब अपने सन्मुख गाय-सदृश पशु को देखता है, तो उसे पहले बतायागया 'गो-गवय' का साधर्म्य स्मरण होआता है। उस संस्मृत प्रसिद्ध साधर्म्य से वह इसका निश्चय करलेता है–गो-सदृश होने से यह पशु 'गवय' पदवाच्य है। इसप्रकार उपमान-प्रमाण का फल है–'गवय' पद का गवय-पशु में शक्तिग्रह होजाना। लोकव्यवहार में उपमान का बहुत प्रयोग चलता है। ऐसे प्रयोगों में–जहाँ दो पदार्थों का 'प्रसिद्धसाधर्म्य' है–

उपमान की प्रवृत्ति का प्रतिषेध नहीं कियाजासकता। फलतः उपमानप्रमाण के विषय में गत सूत्रद्वारा निर्दिष्ट दोष असंगत है ॥ ४५ ॥

उपमान, अनुमान है—शिष्य आशंका करता है, उपमान-प्रमाण भले रहे, पर इसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानाजाना चाहिये। यह अनुमान में अन्तर्गत होजाता है। सूत्रकार ने शिष्यों के आशय को सूत्रित किया—

प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४६ ॥ (१०७)

[प्रत्यक्षेण] प्रत्यक्ष से [अप्रत्यक्षसिद्धेः] अप्रत्यक्ष अर्थ की सिद्धि होने से (उपमान को अनुमान समझना चाहिये)।

जैसे प्रत्यक्ष जाने हुए धूम लिङ्ग से अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना अनुमान है, ऐसे ही प्रत्यक्ष जानी हुई गाय से अप्रत्यक्ष गवय का ग्रहण होता है। पूर्वोक्त अनुमान से इसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता; अतः यह अनुमान के अन्तर्गत आजाता है। उपमान-प्रमाण को पृथक् मानना व्यर्थ है ॥ ४६ ।

अनुमान से उपमान का भेद—आशंका के समाधान के लिए सूत्रकार अनुमान से उपमान-प्रमाण का भेद बताता है—

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४७ ॥ १०८

[न] नहीं [अप्रत्यक्षे] अप्रत्यक्ष—न दीखते हुए [गवये] गवय में [प्रमाणार्थम्] प्रमाण के प्रयोजन को [उपमानस्य] उपमान [पश्यामः] देखते हैं (जानकार लोग)।

अप्रत्यक्ष गवय में उपमान-प्रमाण के प्रयोजन को जानकार लोग नहीं देखते। तात्पर्य है—गवय के अप्रत्यक्ष रहने पर उपमान-प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती; जबकि अनुमान की प्रवृत्ति अग्नि के अप्रत्यक्ष रहने पर होती है। अतः उपमान अनुमान से भिन्न है।

जब—'यथा गौस्तथा गवयः' जैसी गाय है वैसा गवय होता है, इस—उपमान का उपयोग करनेवाला गाय का जानकार नागरिक जंगल में जाकर गाय के समान पशु को देखता है, उस समय दोनों के पूर्वज्ञात साधर्म्य का स्मरणकर यह समझलेता है—'गवय' इस संज्ञाशब्द का संज्ञी [वाच्य] यह पुरोवर्त्ती पशु है। तात्पर्य है, 'गवय' पद और गवय पशु के संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध को व्यवस्थितरूप से जानलेता है। अनुमान-प्रमाण की यह प्रक्रिया नहीं है। अनुमान में अनुमेय अर्थ अप्रत्यक्ष रहता है; पर उपमान में उपमेय—गवय सामने प्रत्यक्ष रहता है।

इसके अतिरिक्त अनुमान-उपमान के भेद को यह स्थिति स्पष्ट करती है कि अनुमान-प्रमाण अपने और दूसरे दोनों के लिए [स्वार्थ और परार्थ] होता है; परन्तु उपमान-प्रमाण केवल परार्थ होता है। जिसके लिए उपमेय अज्ञात है,

उसीके लिए उपमान-प्रमाण का उपयोग बतायाजाता है। बतानेवाला वह व्यक्ति होता है, जो उपमेय को अच्छीतरह जानता है। उसके लिए उपमान का उपयोग कभी आवश्यक नहीं होता। अतः उपमान केवल परार्थ होता है।

शङ्का–उपमान केवल परार्थ होता है, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि स्वयं उपमान का उपयोग करनेवाले नागरिक को भी–'यथा गौस्तथा गवयः'–जैसी गाय है, वैसा गवय होता है,–इसका निश्चित ज्ञान रहता है। इसलिए जांगलिक और नागरिक के ऐसे ज्ञान में कोई अन्तर न होने से नागरिक को भी उपमेय गवय का ज्ञान रहता है, तब उपमान को केवल परार्थ नहीं कहना चाहिये।

समाधान–नागरिक को 'जैसी गाय है वैसा गवय है'–ऐसा ज्ञान होने का कोई प्रतिषेध नहीं करता। पर यह ध्यान देने की बात है कि नागरिक को ऐसा ज्ञान केवल शाब्दिक है, पर-बोध्य है; दूसरे के द्वारा बतलाया गया है। जिसने बतलाया है, उसका यह ज्ञान उपमान और उपमेय [गौ-गवय] दोनों के विषय में प्रत्यक्ष है, शाब्द नहीं। इसलिए नागरिक और जाङ्गलिक के 'यथा गौस्तथा गवयः' इस ज्ञान को समान नहीं कहाजासकता। फलस्वरूप नागरिक का वह ज्ञान जबतक केवल शाब्द है, उपमान-प्रमाण के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता। वह तभी प्रामाण्य का लाभ करता है, जब जंगल में उसके सन्मुख गवय प्रत्यक्ष होता है। उस समय वह ज्ञान साधक-प्रमाण होकर संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध का बोध कराता है। इसलिए नागरिक को साधर्म्य का ज्ञान होने पर भी उपमान की केवल परार्थता नष्ट नहीं होती ॥ ४८ ॥

उपमान का अनुमान से भेद—अनुमान से उपमान के भेद का सूत्रकार ने एक अन्य कारण बताया—

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥ ४८ ॥ (१०६)

[तथा] तथा [इति] इसप्रकार [उपसंहारात्] उपसंहार से [उपमान-सिद्धेः] उपमान की सिद्धि होने से [न] नहीं है [अविशेषः] अविशेष=समानता (अनुमान और उपमान में)।

उपमान में अनुमान से यह भी भेद है, कि उपमान-प्रमाण में 'यथा गौः तथा गवयः' इसप्रकार 'तथा' पद का प्रयोग कर प्रतिपाद्य अर्थ का उपसंहार होता है। यह प्रक्रिया अनुमान-प्रमाण में नहीं बरतीजाती। यह इन दोनों प्रमाणों में परस्पर भेद है ॥ ४८ ॥

शब्द-प्रमाण-परीक्षा—उपमान की परीक्षा पूर्ण हुई। अब क्रमप्राप्त शब्द-प्रमाण की परीक्षा प्रारम्भ कीजाती है। शब्द को अतिरिक्त प्रमाण मानने में उठाईगई आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४६ ॥ (११०)

[शब्दः] शब्द प्रमाण [अनुमानम्] अनुमान है, [अर्थस्य] अर्थ के [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के कारण [अनुमेयत्वात्] अनुमेय होने से।

शब्द-प्रमाण, अनुमान है—शब्द-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में मानलेना चाहिये, उसको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है। क्योंकि शब्द से जो अर्थ जानाजाता है, वह अनुपलब्ध अर्थात् अप्रत्यक्ष रहता है। शब्दरूप हेतु से वह अनुमेय है, यही समझना चाहिये। जैसे जाने हुए धूम आदि लिङ्ग से अप्रत्यक्ष अग्नि आदि लिङ्गी का अनुमान होता है, ऐसे जाने हुए शब्दरूप हेतु से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान होता है। शब्द से अनुमान के समान अर्थप्रतीति होने के कारण शब्द-प्रमाण को अनुमान से अतिरिक्त नहीं मानना चाहिये ॥ ४६ ॥

शब्द को अनुमान से अतिरिक्त न मानने में यह भी कारण है—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ५० ॥ (१११)

[उपलब्धेः] उपलब्धि की [अद्विप्रवृत्तित्वात्] दो प्रकार की प्रवृत्ति न होने के कारण।

यदि शब्द और अनुमान पृथक् प्रमाण हों, तो इनकी प्रवृत्ति का प्रकार भिन्न होना चाहिये। पर देखाजाता है, अर्थबोध के लिए दोनों का प्रकार समान है। जैसे अनुमान में धूम-हेतु अग्नि-अर्थ का बोध कराता है; ऐसे शब्दप्रमाण में वाक्य-हेतु घट आदि अर्थों का बोध कराता है।

चैत्र ने भृत्य को कहा—'घटमानय'। मैत्र ने भी पहले ऐसा कहा था। यहाँ भृत्य को अर्थबोध जिसप्रकार से होता है, उसे निम्नप्रकार कहसकते हैं—'चैत्रः घटानयनविषयकाभिप्रायवान्' उच्चारणसंबन्धेन घटमानयेतिवाक्यविशिष्टत्वात्, मैत्रवत्' चैत्र घड़ा मँगाने के अभिप्रायवाला है, अर्थात् घड़ा मँगाना चाहता है, क्योंकि यह उच्चारण-सम्बन्ध से 'घटमानय' इस वाक्य से युक्त है, अर्थात् इसने 'घटमानय' इस वाक्य का उच्चारण किया है। इसी अभिप्राय से मैत्र ने इस वाक्य का उच्चारण किया था। यह समझकर भृत्य घड़ा ले आता है। तात्पर्य यही है, कि वाक्य अर्थबोध में अनुमान के हेतु के समान है। फलतः दोनों जगह अर्थबोध का प्रकार एक होने से शब्दप्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत मानलेना चाहिये ॥ ५० ॥

शब्द के अनुमानरूप होने में अन्य कारण यह है—

सम्बन्धाच्च ॥ ५१ ॥ (११२)

[सम्बन्धात्] सम्बन्ध से [च] भी (शब्द-अनुमान से अभिन्न है)।

गत सूत्र से 'शब्दोऽनुमानम्' पदों की यहाँ अनुवृत्ति समझनी चाहिये। शब्द अनुमान है, अतिरिक्त प्रमाण नहीं। कारण यह कि शब्द और अर्थ का परस्पर नियत सम्बन्ध देखाजाता है। जब किसीको यह सम्बन्ध निश्चितरूप से

ज्ञात होता है, तभी सम्बन्धज्ञाता को शब्द से अर्थ का बोध होता है। ठीक ऐसी स्थिति अनुमान में देखीजाती है। वह लिङ्ग-लिङ्गी का नियत सम्बन्ध जिसको ज्ञात होता है, वह लिङ्ग-हेतु से लिङ्गी-साध्य का अनुमान करता है। इसप्रकार लिङ्ग-लिङ्गी में और शब्द-अर्थ में परस्पर-सम्बन्ध मानाजाना भी दोनों जगह समान है। इन आधारों पर शब्द-प्रमाण को अनुमानान्तर्गत मानाजासकता है ॥ ५१ ॥

शब्दप्रमाण, अनुमान नहीं—सूत्रकार उक्त आशंका का समाधान करता हुआ समझाता है कि यह आशंका निराधार है, क्योंकि—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः ॥ ५२ ॥ (११३)

[आप्तोपदेशसामर्थ्यात्] आप्त के उपदेश-सामर्थ्य से [शब्दात्] शब्द के द्वारा [अर्थसंप्रत्ययः] अर्थ का निश्चित ज्ञान होता है।

शब्द अथवा वाक्य से जो अर्थ का बोध होता है, वह अनुमेय है, अर्थात् अनुमान-प्रमाण से होनेवाले ज्ञान के समान है; यह कथन युक्त नहीं है। अनुमान-प्रमाण में हेतु और साध्य का परस्पर व्याप्यव्यापकभाव-सम्बन्ध होता है, हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक होता है। शब्द और अर्थ में यह सम्बन्ध असम्भव है। शब्द-अर्थ का वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध होता है। इस शब्द का अमुक अर्थ वाच्य है; अथवा इस अर्थ का अमुक शब्द वाचक है, इस सम्बन्ध के मूल में आप्तोपदेश रहता है। वेद के रूप में ईश्वर द्वारा, एवं अन्य लौकिक शब्दों के विषय में आप्त-पुरुषों के द्वारा कीगई यह व्यवस्था रहती है कि कौनसा शब्द किस अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता है। शब्द में विशिष्ट अर्थ का बोधन कराने की शक्ति का आधान आप्तोपदेशमूलक है। शब्द से अर्थ का बोध इसी सामर्थ्य से होता है। यह शब्द अमुक अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए बताया है, इसी आधार पर शब्द से अर्थ का बोध होता है। ऐसे अर्थबोध में योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति आदि सहकारी कारण रहते हैं। अर्थबोध का यह सब प्रकार अनुमान में नहीं होता। जैसे शब्द का अर्थ में शक्तिग्रह होता है; वैसे धूम का वह्नि में शक्तिग्रह होना कदापि सम्भव नहीं। अतः शब्द-प्रमाण अनुमान से विलक्षण है, एवं प्रमाणान्तर है, यह स्पष्ट होता है।

कोई अर्थ सर्वथा अतीन्द्रिय होते हैं। कुछ इन्द्रियग्राह्य होने पर भी व्यवधान आदि के द्वारा प्रत्यक्षतः गृहीत नहीं होते। पहले प्रकार के पदार्थों का बोध केवल शब्द-प्रमाण के द्वारा होना सम्भव है। यदि शब्द को अनुमानरूप मानाजाता है, तो अर्थ के अतीन्द्रिय होने से शब्द-लिङ्ग और अर्थ-लिङ्गी का व्याप्तिग्रह कभी नहीं होसकता। हेतु-साध्य के व्याप्तिज्ञान के अभाव में अनुमान की प्रवृत्ति असम्भव है। इसलिए आप्तोपदेशमूलक शब्द को यदि स्वतन्त्र प्रमाण

नहीं मानाजाता, तो अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में जानकारी होना सम्भव न होगा। इससे शब्द और अनुमान के द्वारा अर्थबोध होने में प्रकार का भेद स्पष्ट होजाता है। फलतः दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति के समान होने अथवा उनमें वैलक्षण्य न होने के लिए जो विशेष हेतु का अभाव बतायागया, वह असंगत है।

शब्द-अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष से अग्राह्य—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के आधार पर शब्दप्रमाण को जो अनुमान बतायागया है, वह भी ठीक नहीं है। शब्द-अर्थ का परस्पर सम्बन्ध क्या है? यह समझना चाहिये। शब्द-अर्थ का वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध स्वीकृत है; तथा प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध प्रतिषिद्ध मानागया है। 'प्राप्ति' दो पदार्थों के संयोग को कहते हैं। शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध आचार्यों को स्वीकार नहीं है; और न यह सम्भव है; जिससे धूम के समान शब्द को लिङ्ग मानकर उससे अर्थबोध होने की आपत्ति प्रस्तुत कीजाय। शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध किसी प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण ही अस्वीकार मानागया है।

पहले प्रत्यक्ष को लीजिये। शब्द और अर्थ का संयोग-सम्बन्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता। जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण नहीं होता। 'घट' शब्द श्रोत्र-इन्द्रिय से गृहीत होता है; परन्तु 'घट' अर्थ (वस्तु) का ग्रहण श्रोत्र से नहीं होसकता। फिर अतीन्द्रिय अर्थ भी बहुत हैं; उनका ग्रहण किसी इन्द्रिय से नहीं होता। परन्तु उनके वाचक शब्दों का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। किन्हीं दो पदार्थों के संयोग का ग्रहण तभी होसकता है, जब वे दोनों पदार्थ समान इन्द्रिय से गृहीत हों। श्रोत्र-इन्द्रिय केवल शब्द, शब्दगत जाति तथा शब्दाभाव का ग्रहण करसकता है; किसी द्रव्य एवं शब्दातिरिक्त गुण आदि का ग्रहण नहीं करसकता। इसलिए 'घट' आदि शब्दों का श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्रहण होने पर भी 'घट' आदि द्रव्यभूत वस्तुओं का ग्रहण श्रोत्र से नहीं होसकता। अतः प्रत्यक्ष से शब्द-अर्थ के संयोग (प्राप्ति-लक्षणसम्बन्ध) की उपलब्धि होना असम्भव है; इसीकारण इसको प्रतिषिद्ध (अस्वीकार्य) मानागया है।

इसके अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि संयोग-सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों का होता है। शब्द गुण है, और उसके वाचक द्रव्यादि पदार्थ हैं। शब्द के साथ इनका संयोग-सम्बन्ध सम्भव नहीं। इनके संयोग अथवा प्राप्ति का तात्पर्य है—जैसे ही शब्द का उच्चारण हो, अर्थ [वस्तु-द्रव्यादि] उससे वहीं सम्बद्ध होना चाहिये। यदि इसको स्वीकार कियाजाता है, तो जिज्ञासा होती है—शब्द और अर्थ के प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध के गृहीत होने पर शब्द के समीप अर्थ होता है, या अर्थ के समीप शब्द; अथवा दोनों, दोनों के समीप। सामीप्य का तात्पर्य है—सम्बन्ध। शब्द के उच्चरित होते ही शब्द के प्रदेश में अर्थ पहुँचजाता है,

या अर्थ के प्रदेश में शब्द, अथवा दोनों, दोनों जगह पहुँचते हैं ? इनमें से कोई भी स्थिति देखी नहीं जाती। जब प्रत्यक्ष से इनका संयोग उपलब्ध नहीं, तो अनुमान आदि से उसका प्रत्यक्ष होना असम्भव है। अतः शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं मानागया ॥ ५२ ॥

प्राप्ति-सम्बन्ध शब्द-अर्थ का अनुमेय नहीं—अन्य कारणों से भी शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध अग्राह्य है। सूत्रकार ने बताया—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥ ५३ ॥ (११४)

[पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेः] पूरण—भरजाना, प्रदाह—जलजाना, पाटन—कटजाना आदि की अप्राप्ति से [च] तथा [सम्बन्धाभावः] सम्बन्ध का अभाव है (शब्द-अर्थ के प्राप्तिलक्षण)।

गतसूत्र में बताया, शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होता। अनुमान से भी उसका ग्रहण नहीं होता, यह प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट कियागया है। यदि शब्द के उच्चरित होते ही शब्द के समीप अर्थ उपस्थित होजाता हो, तो मुख में पूरण, प्रदाह और पाटन उपलब्ध होना चाहिये। शब्द का उच्चारण मुख से होता है, यथायथ शब्द के उच्चारण के लिए मुख में विशिष्ट स्थान, करण, प्रयत्न आदि का उपयोग होता है, अतः शब्द का उच्चारण मुख में सम्भव है। अब यदि इस बात को मानाजाय कि शब्द-अर्थ का परस्पर प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध है, तो 'मोदक' (लड्डू) शब्द का उच्चारण होते ही मोदक वहाँ उपस्थित होजाय और उससे मुँह भरजाना चाहिये। ऐसे ही 'अग्नि' शब्द का उच्चारण होने पर मुँह जलजाय। 'असि' (तलवार) शब्द का उच्चारण होते ही मुँह कटजाना चाहिये। पर यह सब-कुछ नहीं होता। इससे स्पष्ट है, शब्द के समीप अर्थ नहीं आता; तब उनकी प्राप्ति [एक-दूसरे से संयुक्त होजाने] का प्रश्न ही नहीं उठता।

सूत्र में पठित 'च' पद से शब्द के उच्चारण में कारणीभूत स्थान, करण, प्रयत्न आदि को उपलक्षित कियागया है। शब्दोच्चारण में कण्ठ, तालु आदि स्थानों तथा करण आदि के कारण होने से जहाँ वे स्थान आदि हैं, वहीं शब्द का उच्चारण सम्भव है। इसलिए यह कहना भी असंगत होगा कि अर्थ-प्रदेश में शब्द का उससे (अर्थ से) संयोग होता है। घट आदि अर्थ के स्थितिप्रदेश में शब्द का उच्चरित होना असम्भव है। तब उनकी प्राप्ति कैसी ? इसप्रकार न शब्द के समीप अर्थ का होना सम्भव है, और न अर्थ के समीप शब्द का होना। इसके अनुसार दोनों का दोनों के समीप जाने का प्रश्न समाप्त होजाता है। फलतः शब्द और अर्थ के प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध का किसी प्रमाण से ग्रहण न होने के कारण इनका परस्पर ऐसा सम्बन्ध अमान्य है ॥ ५३ ॥

शब्द-अर्थ का सम्बन्ध व्यवस्थित—शिष्य जिज्ञासा करता है, शब्द-अर्थ का परस्पर व्यवस्थित सम्बन्ध प्रतीत तो होता है, तब उसका प्रतिषेध न होना चाहिये। सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया—

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५४ ॥ (११५)

[शब्दार्थव्यवस्थानात्] शब्दार्थ की व्यवस्था से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं होनाचाहिये (शब्दार्थ-सम्बन्ध का)।

'घट' आदि विशेष शब्द से विशेष वस्तु घड़ा आदि का ही ग्रहण होता है, कपड़ा, घोड़ा आदि का नहीं। इससे शब्द और अर्थ के परस्पर-सम्बन्ध का बोध होता है। यदि शब्द-अर्थ का कोई निश्चित-व्यवस्थित सम्बन्ध न हो, तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध होजाना चाहिये; पर ऐसा नहीं है। किसी शब्द से किसी अर्थ का बोध कराने में एक व्यवस्था देखीजाती है। इस व्यवस्था का कारण उनका सम्बन्ध ही है। अतः शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं होना चाहिये ॥ ५४ ॥

शब्द-अर्थ-सम्बन्ध सांकेतिक—सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य ॥ ५५ ॥ (११६)

[न] नहीं, [सामयिकत्वात्] सामयिक होने से [शब्दार्थसंप्रत्ययस्य] शब्द द्वारा अर्थ-प्रत्यय (बोध–ज्ञान) के।

किसी विशेष शब्द से जो विशिष्ट अर्थ का बोध होता है, इसका कारण शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध नहीं है; यह समयकारित होता है। इसका कारण 'समय' है। इसलिए शब्द-अर्थ के प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं करना चाहिये, ऐसा समझना ठीक नहीं। शब्द से अर्थ-बोध में इनके प्राप्ति-सम्बन्ध का कोई स्थान नहीं है। वह 'समय' के कारण होता है।

अब यह समझलेना चाहिये कि 'समय' का तात्पर्य क्या है? अमुक शब्द का यह अर्थ वाच्य या अभिधेय है, इसप्रकार का 'निर्धारित संकेत' समय है। आचार्यों ने वेद शब्द के अर्थों के लिए 'ईश्वरेच्छा' को संकेत माना है। अन्य सभी लौकिक शब्दों के अर्थ यथाकाल विभिन्न आभिधानिक आचार्यों, लोककर्त्ता पुरुषों तथा पृथक् भाषा-भाषी जनता की इच्छा व व्यवहार के अनुसार निर्धारित होते रहते हैं। कौन-सा शब्द किस अर्थ को अभिव्यक्त करता है, ऐसे संकेत अपनी-अपनी भाषाओं के निर्धारित रहते हैं। उसीके अनुसार शब्द के उच्चारण से अर्थबोध होता है। जो व्यक्ति उस संकेत व समय को समझता है, शब्द सुनने पर उसीको अर्थबोध होपाता है। जो किसी भाषा के निर्धारित संकेत को नहीं जानते, उस भाषा के शब्दों को सुनने पर भी उन्हें अर्थबोध नहीं होपाता। जो वादी शब्द-अर्थ के प्राप्तिलक्षण-(संयोग)-सम्बन्ध को स्वीकार करता है, वह भी

शब्द-अर्थ-विषयक उक्त व्यवस्था की उपेक्षा नहीं करसकता; क्योंकि इसके विना लोकव्यवहार चलना सम्भव नहीं है।

बोल-चाल में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों और उनके अर्थों को साधारण जनता अपने बड़ों के व्यवहार से सीखलेती है। यह परम्परा बराबर चलती रहती है। अनेक बार इसमें थोड़े या बहुत शब्दों के संकेत बदलते रहते हैं। कालान्तर में शब्दों की ध्वनियों में भी अन्तर पड़ता रहता है, और भाषाओं [शब्द-समुदाय] का इतना रूप बदलजाता है कि उसी परम्परा में होनेवाली जनता अपनी वर्त्तमान भाषा की मूलभूत ध्वनियों के संकेतों को नितान्त भी नहीं समझपाती। इसीकारण उन संकेतों की रक्षा के लिए उस पदात्मक वाणी का विवरण प्रस्तुत करनेवाले व्याकरणशास्त्र का यथाकाल निर्माण कियाजाता है।[1] उन पदों के समूह–वाक्यों के द्वारा अभिमत अर्थों का बोध होता है। वाक्य अर्थबोध की पूर्णता में पर्यवसित रहता है। इस सब विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है कि शब्द-अर्थ का परस्पर प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध किसीप्रकार सम्भव नहीं। इससे शब्द-अर्थ के सम्बन्धमात्र का निषेध नहीं कियागया। इनका वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध पूर्णरूप से अभिमत है॥ ५५॥

शब्द-अर्थ का सम्बन्ध नियत नहीं—शब्द से अर्थ का बोध निर्धारित संकेत के अनुसार होता है, इस व्यवस्था को सूत्रकार ने अन्य प्रकार से पुष्ट किया—

जातिविशेषे चानियमात्॥ ५६॥ (११७)

[जातिविशेषे] जातिविशेष में [च] तथा [अनियमात्] नियम न होने से (शब्दार्थ-प्रत्यय के लिए)।

अमुक शब्द से उसी अर्थ का बोध होसकता है, ऐसा नियम मानवसमाज के किसी वर्ग में नहीं है। मानव-समाज में ऋषि, आर्य, म्लेच्छ आदि सभीप्रकार के वर्ग होते हैं। फिर विभिन्न देशों में विभिन्न भाषा बोली जाती हैं। उनके

---

१. **संस्कृत भाषा का वर्त्तमान पाणिनीय व्याकरण महाभारत-युद्ध के अनन्तर ऐसे ही अवसर पर बनायागया था, जब तात्कालिक पश्चिमोत्तर भारत की साधारण जनता में बोली जानेवाली संस्कृत भाषा में विकार की सम्भावना उत्पन्न होगई थी। ऐसा समय महाभारत-युद्ध के अनन्तर सौ-डेढ़ सौ वर्ष के अन्तराल में आया। जब युद्ध के कारण ध्वस्त एवं जर्जर राष्ट्र में महान् प्रयत्नों के होने पर भी साधारण जनता को प्रमाद, आलस्य, अनैतिकता आदि दुर्बलताओं की ओर बढ़ने से पूर्णरूप में न बचायाजासका। यदि उस समय पदरूप वाणी के संकेतों की रक्षा के लिए यह व्याकरण न बनाया जाता, तो आज संस्कृत भाषा को समझना दुरूह होता।**